Master of Arts

(Hindi)

भारतीय काव्यशास्त्र के सिद्धांत (HNL-503)

Semester-I

Author- Sahil Kumar

SURESH GYAN VIHAR UNIVERSITY

Centre for Distance and Online Education

Mahal, Jagatpura, Jaipur-302025

EDITORIAL BOARD (CDOE, SGVU)

Dr (Prof.) T.K. Jain
Director, CDOE, SGVU

Ms. Hemlalata Dharendra
Assistant Professor, CDOE, SGVU

Ms. Kapila Bishnoi
Assistant Professor, CDOE, SGVU

Mr. Ashphaq Ahmad
Assistant Professor, CDOE, SGVU

Dr. Manish Dwivedi
Associate Professor & Dy, Director, CDOE, SGVU

Mr. Manvendra Narayan Mishra
Assistant Professor (Deptt. of Mathematics) SGVU

Published by:

S. B. Prakashan Pvt. Ltd.

WZ-6, Lajwanti Garden, New Delhi: 110046

Tel.: (011) 28520627 | Ph.: 9205476295

Email: info@sbprakashan.com | Web.: www.sbprakashan.com

© SGVU

All rights reserved.

No part of this book may be reproduced or copied in any form or by any means (graphic, electronic or mechanical, including photocopying, recording, taping, or information retrieval system) or reproduced on any disc, tape, perforated media or other information storage device, etc., without the written permission of the publishers.

Every effort has been made to avoid errors or omissions in the publication. In spite of this, some errors might have crept in. Any mistake, error or discrepancy noted may be brought to our notice and it shall be taken care of in the next edition. It is notified that neither the publishers nor the author or seller will be responsible for any damage or loss of any kind, in any manner, therefrom.

For binding mistakes, misprints or for missing pages, etc., the publishers' liability is limited to replacement within one month of purchase by similar edition. All expenses in this connection are to be borne by the purchaser.

Designed & Graphic by : S. B. Prakashan Pvt. Ltd.

Printed at :

विषय-सूची

इकाई 1

भारतीय साहित्यशास्त्र का विकासक्रम एवं रस का स्वरूप 5

इकाई 2

अलंकार सिद्धांत 45

इकाई 3

रीति सिद्धान्त 74

इकाई 4

ध्वनि सिद्धान्त 86

इकाई 5

वक्रोक्ति सिद्धांत 100

vf/kxe ifj.kke (Learning out comes)

fo|kFkhZ le>u e l{ke gkxk

bdkbl &1

- fo|kFkh Hkkjrh; lkfgR;'kkL= d fodkl de dk v/;;u dj ldx
- o jl d Lo:ik dk Kku ikIr dj ldx
- o Hkjrefu d jl l=dk foopu] HkVVykYyV d mRifRrokn] ,o HkVV'kdd d vufefrokn dk v/;;u dj ldx

bdkbl &2

- fo|kFkh vydkj fl)kr d ckj e Kku ikIr dj ldx
- o dk0; e vydkjk dk LFkku ,o egRo dk ifriknu dj ldx
- o vydkj dk0; d lk/; g ;k lk/ku d vrj dk lh[ku e l{ke gkx

bdkbl &3

- fo|kFkh jhfr fl)kr dh 0;Rifr ,o dk0;'kkfL=;k d erk dk v/;;u dj ldx
- fo|kFkh jhfr dh ifjHkk'kk,o Hkn dk Kku ikIr dj ldx
- o lkfgR; e jhfr 'kyh d egRo dk ifriknu dj ldx

bdkbl &4

- fo|kFkh /ofu fl)kr dh mRifr dk Kku ikIr dj ldx
- fo|kFkh /ofu fl)kr d Lo:Ik ,o ifjHkk'kk dk Kku ikIr dj ldx
- o dk0; e /ofu fl)kr d egRo dk ifriknu dj ldx

bdkbl &5

- fo|kFkh odkfDr dk bfrgkl ,o drd io odkfDr dh vo/kkj.kk dk v/;;u dj ldx
- fo|kFkh odkfDr d Hkn dk Kku ikIr dj ldx
- o odkfDr fl)kr d fy, fofHkUu vkpk;k d fopkjk dk vkRelkr dj ldx

भारतीय काव्यशास्त्र के सिद्धांत

इकाई 1

भारतीय साहित्यशास्त्र का विकासक्रम एवं रस का स्वरूप

भारतीय साहित्यशास्त्र का आरम्भ, बाबा जयशंकर प्रसाद के अनुसार, सुश्री महादेवी वर्मा के अनुसार, डा. नगेन्द्र के अनुसार, डा. रवीन्द्रनाथ टैगोर के अनुसार, हितकारक रचना, ज्ञान राशि का कोश, अंग्रेजी के लिटरेचर, रस शब्द की व्युत्पत्ति एवं परिभाषा, रस के अंग या अवयव, विभाव, संचारी अथवा व्यभिचारी भाव, रस निष्पत्ति, भरत मुनि का रस सूत्र विवेचन, भट्टलोल्लट का उत्पात्विाद या आरोपवाद, भट्टशंकुक का अनुमितिवाद

इकाई 2

अलंकार सिद्धांत

अलंकार की परिभाषा, अलंकार सिद्धान्त, अन्य आचार्यो का मत, अलंकार का स्वरूप, अलंकार का विकास, अलंकारों के भेद वर्गीकरण, अलंकार के भेद, काव्य मे अलंकारो का स्थान, काव्य में अलंकारों का महत्व, अलंकार और रस, ध्वनि रसवादियों का अलंकार विषयक दृष्टिकोण, अलंकार काव्य के सांध्य है या साधन, अलंकार काव्य के उत्कर्ष के साधन, अलंकार काव्य के उत्कर्षक या अपकर्षक, काव्य का अनिवार्य तत्व रस अलंकार नहीं

इकाई 3

रीति सिद्धान्त

रीति शब्द की व्युत्पति, रीति संबंधी विभिन्न काव्यशास्त्रियों के मत, रीति की परिभाषा, रीति के विविध पर्याय, रीति भेद के आधार, रीति और शैली

इकाई 4

ध्वनि सिद्धान्त

ध्वनि शब्द की व्युत्पति एवं ध्वनि सिद्धान्त का जन्म, ध्वनि सिद्धान्त की स्थापना, ध्वनि अथवा ध्वन्यालोक एक युग प्रवर्तक ग्रन्थ, ध्वनि का आधार स्वरूप एवं ध्वनि सिद्धान्त की परिभाषा, आधार और स्वरूप, ध्वनि की परिभाषा, ध्वनि और स्फोट सिद्धान्त, ध्वनि और शब्दशक्ति, ध्वनि के भेद, ध्वनि के ५१ भेद, रस ध्वनि, भाव ध्वनि, रसाभाव, भावाभास, ध्वनि के आधार पर काव्य के भेद, ध्वनि सिद्धान्त का महत्व

इकाई 5

वक्रोक्ति सिद्धांत

वक्रोक्ति की परिभाषा, वक्रोक्ति, कुंतकपूर्व वक्रोक्ति विचार, वक्रोक्ति सिद्धांत का स्वरूप, वक्रोक्ति सिद्धांत के भेद, वक्रोक्ति के भेद, वक्रोक्ति सिद्धांत का महत्व

इकाई 1

भारतीय साहित्यशास्त्र का विकासक्रम एवं रस का स्वरूप

संरचना

1.1 भारतीय साहित्यशास्त्र का आरम्भ
1.2 बाबा जयशंकर प्रसाद के अनुसार
1.3 सुश्री महादेवी वर्मा के अनुसार
1.4 डा. नगेन्द्र के अनुसार
1.5 डा. रवीन्द्रनाथ टैगोर के अनुसार
1.6 हितकारक रचना
1.7 ज्ञान राशि का कोश
1.8 अंग्रेजी के लिटरेचर
1.9 रस शब्द की व्युत्पत्ति एवं परिभाषा
1.10 रस के अंग या अवयव
1.11 विभाव
1.12 संचारी अथवा व्यभिचारी भाव
1.13 रस निष्पत्ति
1.14 भरत मुनि का रस सूत्र विवेचन
1.15 भट्टलोल्लट का उत्पात्विाद या आरोपवाद:
1.16 भट्टशंकुक का अनुमितिवाद
1.17 प्रश्न-उत्तर

1.1 भारतीय साहित्यशास्त्र का आरम्भ

सामान्यत: भरत मुनि के नाटयशास्त्र (लगभग प्रथम शती ईसवीं) से माना जाता है। आचार्य भरत मुनि ने साहित्यशास्त्र का निम्न शब्दों में वर्णन किया है।

मानव द्वारा अपने भावों को अभिव्यक्त करने और उन्हें स्थिरता देने की भावना से साहित्य का जन्म हुआ। यह कथन अखरशरू सत्य है। संसार और जीवन को देखकर, उसका अनुभव करके, उसके प्रति हमारी कुछ न कुछ प्रतिक्रिया होती है। पहले हमको उसका ज्ञान होता है और फिर उसके प्रति आकर्षण या विकर्षण पैदा होता है। इस ज्ञान के उत्पन्न होते ही हमारा हृदय आन्दोलित हो उठता है। ज्ञान के साथ हमारे भावों का गहरा सम्बन्ध होता है। भावों से प्रेरित होकर हम उन्हीं के अनुकूल कार्य

टिप्पणी

करने लगते हैं जैसे- मित्र को देखकर उसका स्वागत करना तथा शत्रु को देखकर उसकी उपेक्षा करना अथवा उससे दूर भागना स्वाभाविक प्रतिक्रिया होती है। इसी कारण विद्वारों ने मानव मन के मूल में कार्यरत मनोवृत्तियों के तीन रूप माने है:

(१) ज्ञान

(२) भावना

(३) संकल्प।

परिस्थितियों के अनुसार ही इन मनोवृत्तियों के स्फुरण होने लगता है। अभिव्यक्ति की भावना ज्ञान से भी होती है। परन्तु उसकी जितनी तीव्रता भावना के क्षेत्र में देखी जाती है उतनी अन्यत्र नहीं। अभिव्यक्ति की वही भावना मानव को क्रियाशील बनाती है। और यह क्रिया ही अभिव्यक्ति का रूप है।

मानव की विभिन्न अभिव्यक्तियों में से विद्वान उसकी शाब्दिक अभिव्यक्ति को ही सबसे अधिक महत्व देते हैं क्योंकि उसमें स्थायित्व और सामाजिकता अपेक्षाकृत अधिक होती है। हम अपनी आत्मा पर पड़े हए विभिन्न प्रभावों से उत्पन्न भावों की अभिव्यक्ति चाहते हैं। यहीं अभिव्यक्ति कहलाती है। साहित्य इसी का दूसरा नाम है।

"साहित्य को राजशेखर ने आन्विक्षिकी चर्चा, वार्ता और दण्ड नीति के अतिरिक्त पाँचवी विधा माना है जो इन चारों विधाओं का सार है।"

धर्म और अर्थ की प्राप्ति इन्हीं विधाओं का मुख्य फल है।

डा. गुलाबराय के अनुसार साहित्य शब्द अपने व्यापक अर्थ में सारे वाड्मय का द्योतक है। वाणी का जितना प्रकार है वह सब साहित्य के अन्तर्गत है।

आचार्य कुन्तक ने आह्लाद कारक कवि-व्यापार से मुक्त रचना में व्यवस्थित शब्द और अर्थ को काव्य माना तथा शब्द और अर्थ की परस्पर समभाव की मनोहर स्थिति को ही साहित्य माना है।

1.2 बाबा जयशंकर प्रसाद के अनुसार

साहित्य आत्मा की अनुभूतियों का नित्य रहस्य खोलने में प्रयत्नशील है। क्योंकि आत्मा को मनोमय, वाड्मय और प्राणमय माना गया है।

1.3 सुश्री महादेवी वर्मा के अनुसार

साहित्य में मनुष्य की बुद्धि और भावना इस प्रकार मिल जाती है जैसे धूपछाही वस्त्रों में दो रंगो के तार, जो अपनी-अपनी भिन्नता के कारण भी अपने रंगो से भिन्न एक तीसरे रंग की सृष्टि करते हैं। हमारी मानसिक वृतियों की ऐसी सामंजस्य पूर्व एकता साहित्य के अतिरिक्त और कही संभव नहीं है। इसके लिये न हमारा अन्तर्जगत त्याज्य है और न बाह्य। क्योंकि उसका विषय सम्पूर्ण जीवन है, आंशिक नहीं।

1.4 डा. नगेन्द्र के अनुसार

आत्माभिव्यक्ति ही वह मूल तत्व है जिसके कारण कोई व्यक्ति साहित्यकार और उसकी कृति साहित्य बन पाती है।

इस प्रकार साहित्य शब्द का प्रयोग मुख्यतरू चार रूपों में होता है

(१) शब्द और अर्थ का सहभाव

टिप्पणी

(२) हित कारक रचना

(३) ज्ञान राशि का कोश

(४) अंग्रेजी के लिटरेचर के पर्याय के रूप में।

शब्द और अर्थ का सहभाव

कुछ विद्वारों ने साहित्य को शब्द और अर्थ का सहभाव माना है। राजशेखर और कुन्तक दोनों ही इसी प्रयोग को मान्यता देते हैं। राजशेखर ने लिखा है कि शब्द और अर्थ के सहभाव में समन्वित विद्या साहित्य विद्या कहलाती है। कुतक ने भा शब्द और अर्थ को ही साहित्य माना है।

1.5 डा. रवीन्द्रनाथ टैगोर के अनुसार

डा. रवीन्द्रनाथ टैगोर ने इस सहभाव को और आगे बढ़ा दिया है उनके अनुसार–साहित्य का सहित शब्द मिलन भाव का सूचक है। वह (मिलन) भाव और भाव का, भाषा और भाषा का, ग्रन्थ और ग्रन्थ का ही मिलन नहीं है अपितु मनुष्य का, अतीत के साथ वर्तमान का, दूर के साथ निकट का अत्यन्त अन्त रंग मिलन भी है जोकि साहित्य के अतिरिक्त किसी अन्य में संभव नहीं है।

महाकवि कालिदास ने शिव और पार्वती को इसी प्रकार अविच्छिप्त सहभाव माना है जिस प्रकार काव्य में शब्द और अर्थ का होता है।

वागथीविव संयुक्तौ, वागथी प्रतिपतये
जगतरू पितरौ वन्दे, पविती परमश्रो

गोस्वामी तुलसीदास ने भी शब्द और अर्थ का सम्बन्ध जल और वीचि के समान अदूत माना है–

"गिरा अर्थ जत वीचि सम,
कहियान भिन्न न भिन्न

1.6 हितकारक रचना

हितकारक रचना–इस प्रयोग के अन्तर्गत साहित्य की व्युत्पत्ति इस प्रकार की जाती है

"स हितस्य भाव साहित्यम"

अर्थात् हितकारक रचना को साहित्य कहते हैं। इस प्रयोग में साहित्य का अर्थ व्यापक हो गया है–वह वाड्मय बन गया है क्योंकि काव्य कविता ही नहीं बल्कि काव्येतर कृतियाँ भी हित कारक होने से साहित्य कहीं जाएगी। इसी कारण भजि ने वाड्मय के छेय भेद बतलाए है:

काव्य, शास्त्र, इतिहास, काव्यशास्त्र, काव्येतिहार और शास्त्रेतिहास।

1.7 ज्ञान राशि का कोश

ज्ञान राशि का कोश–कभी–कभी साहित्य का प्रयोग ज्ञान राशि के कोश के लिये किया जाता है। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने ज्ञान राशि के संचित कोश को साहित्य बतलाया है। इस रूप में साहित्य शब्द का प्रयोग भी काफी पुराना हैं शब्द शक्ति प्रकाशिका तथा विवके में भी साहित्य शब्द की व्युत्पत्ति इसी अर्थ में की गई है।

1.8 अंग्रेजी के लिटरेचर

अंग्रेजी के लिटरेचर के पर्याय के रूप में–आजकल साहित्य शब्द का प्रयोग होने लगा है। लिटरेचर बहुत

व्यापक शब्द है। हडसन के अनुसार साहित्य जीवन की आलोचना और उसका जीवन्त लेखा-लोखा है। अतरू लिटरेचर को भारतीय शब्द वाङ्मय शब्द का ही समकक्ष मानना चाहिए। उपर्युक्त विवेचन के आधार पर बाबू गुलाब राय ने साहित्य की निम्नलिखित परिभाषा स्थिर की है

साहित्य संसार के प्रति मानसिक प्रक्रिया अर्थात् विचारों, भावों और संकल्पों की शाब्दिक अभिव्यक्ति है और हमारे किसी न किसी प्रकार के हित का साधन करने के कारण संरक्षणीय हो जाती है। भारतीय दृष्टिकोण से साहित्य की तीन विशेशाताएँ मानी गई हैं।

(१) हित साधन करना - हितरू सन्निहित तत्साहित्यम्।

(२) मानव मनोवृतियों को तृप्त करना - सहित रसेन युक्तम् तस्य भावरू साहित्यम।

(३) मानव मनोवृत्तियों को उत्पन्न करना - अवहित मनसा महर्षिभिः तत् साहित्यम

उपर्युक्त विभिन्न भारतीय परिभाषाओं के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहँचते हैं कि साहित्य का मुख्य उद्देश्य-

मावन मात्र का हित साधन है जो आनन्द द्वारा लिया जाता है और यह आनन्द-रसानुभूति के कारण रस का साधारणीकरण होने पर प्राप्त होता है।

भारतीय साहित्य सदैव जीवन के साथ उपयोगी माना गया है। इस प्रकार साहित्य में बुद्धि तत्व से सत्य और शिव की रक्षा होती है और कल्पना, भाव तथा शैली तत्व से 'सुन्दरम' का निर्माण होता है। यही सत्य शिव सुन्दरम् पाश्चात्य आलोचना शास्त्र के प्रमुख मानदण्ड है उपर्युक्त तत्वों के आधार पर साहितय की निम्नलिखित परिभाषा निश्चित की जा सकती है कि साहित्य वह वस्तु है जिसमें मनोभावात्मक, कल्पत्मक बौद्धिक तथा रचनात्मक तत्वों का समावेश हो।

साहित्य क्या है और क्या नहीं, इसे निर्धारित करने के लिये काव्य लक्षणों की सहायता ली जाती है। इसके तीन लक्षण है

(१) स्थायित्व (२) व्यक्तित्व का प्रतिफल (३) रागात्मकता

(1) स्थायित्व से तात्पर्य है

साहित्य की शाश्वता कोई दूसरी साहित्यिक कृति के आ जाने पर गौण या अंसबद्ध यनज कंजमकद्ध नहीं हो जाती है। उसका अपना सौन्दर्य या महत्व अक्षुण्ण बना रहता है। दर्शन विज्ञान आदि में ऐसा नहीं है।

(2) व्यक्तित्व का प्रतिफल

दूसरे साहित्य में कृतिकार के व्यक्तित्व का प्रतिफल अनिवार्यतरू होता है। वह अपने परिवेश जाति और संस्कारों की अमिट छाप कृति पर प्रत्यक्ष या परोक्षतरू अवश्य छोड़ता है। यही कृति की अद्वितीयता है।

(3) रागात्मकता

तीसरा लक्षण है रागात्मकता की स्थिति, जिसके बिना साहित्य, साहित्य नहीं हो सकता। रागात्मकता अनुभूति और भावों की अभिव्यक्ति से संचरित होती है। बौद्धिक होते हुए भी साहित्य शास्त्र रागात्मकता से शून्य नहीं होना चाहिए।

उपर्युक्त विवरण से साहित्यशास्त्र सम्बन्धि साहित्य का अर्थ भली भांति ज्ञात हो जाता है। इस विवरण के आधार पर साहित्यशास्त्र का विकास सामान्यतरू भरत मुनि के नाट्य शास्त्र से माना

जाता है। आचार्य भरत से लेकर अब तक के साहित्य शास्त्र के विकास को हम सामान्यतः पाँच कालों में विभक्त कर सकते हैं

(१) स्थापना काल - (पाँचवी शती के अन्त तक)

(२) नव अन्वेषण काल - (छठी शती से ग्यारवहीं शती तक)

(३) संशोधन काल - (ग्यारवहीं शती से सत्रहवीं शती तक)

(४) पद्यानुवाद काल - (सत्रहवीं शती से उन्नीसवीं शती तक)

(५) नवोत्थान काल - (उन्नीसवीं शती के अन्तिम चरण से अब तक)।

इन सभी की अपनी-अपनी उपलब्धियाँ है।

स्थापना काल (पाँचवी शती के अन्त तक)

यद्यपि आचार्य भरत से भी पूर्व अनेक आचार्य हो गये होंगे परन्तु इस काल के उपल्बध ग्रन्थों में केवल भरत मुनि के ही 'नाट्य शास्त्र' का नाम आता है। अतरू आचार्य भरत को ही भारतीय साहित्य शास्त्र की स्थापना का श्रेय दिया जा सकता है।

उन्होंने नाट्य कला का सर्वागीण विवेचन करने के साथ-साथ नाटक सम्बन्धि अन्य कलाओं तथा साहित्य के भी विभिन्न तत्वों पर भी प्रकाश डाला हैं। साहित्य शास्त्र में उनकी सबसे बड़ी देन रस सिद्धान्त है। रस सिद्धान्त के अनुसार साहित्य का लक्ष्य पाठक या श्रोता की भावनाओं को उद्वेलित करके उसे आनन्द प्रदान करना है- इसी आनन्द को साहित्य शास्त्रीय शब्दावली में 'रस' कहते हैं। इसी तथ्य को सूत्र रूप में प्रस्तुत करते हुए आचार्य भरत ने कहा था

विभावानुभाव व्याभिचारि संयोगाद रस निष्पत्ति - अर्थात् विभाव अनुभाव एवं व्यभिचारी के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। परवर्ती आचार्य व्याख्याताओं ने इस सूत्र की अपने-अपने दृष्टिकोण से व्याख्या करते हुए इस सिद्धान्त का विकास कई रूपों में किया है। भरत मुनि का यह रस सिद्धान्त आज भी महत्वपूर्ण के साथ-साथ प्रचलित एवं मान्य है।

नव अन्वेषण काल (छठी से ग्यारहवीं शती तक)

भारतीय साहित्य शास्त्र का सर्वतोमुखी विकास इसी काल में हुआ। इसी काल में एक और भामह (छठी शती) दण्डी (सातवीं शती) वामन (आठवी शती) आनन्द वल्देनाचार्य (दसवीं शती) जैसे मौलिक चिनतक उत्पन्न हुए जिन्होंने साहित्य के नये-नये तत्वों का अन्वेषण करते हुए अनेक नवीन सिद्धान्त की स्थापना की तो दूसरी ओर भट्टलोल्लट, (आठवी-नवीं शती) शंकुक (नवी शती) भट्टनायक (नवी दवसी शती) अभिनवगुप्त (दसवीं-ग्यारहवीं शती) राजशेखर (दसवीं) धननन्जय (दसवीं शती) महिम भट्ट (१०वी. ११वी. शती) और भोजराज (ग्यारहवी शती) जैसे प्रतिभाशाली व्याख्याताओं का आविर्भाव हुआ। जिन्होंने पूर्ववर्ती आचार्यों की स्थापनाओं का इस युग की देन को हम मुख्यतः दो भागों में विभक्त कर सकते हैं

(१) नवीन सिद्धान्तों की स्थापना और

(२) नवीन व्याख्याएँ

नवीन सिद्धान्तों की स्थापना - इस युग में साहित्य सम्बन्धी पाँच नये सिद्धान्तों की स्थापना हुई

१. अलंकार सम्प्रदाय

टिप्पणी

२. रीति सम्प्रदाय

३. ध्वनि सम्प्रदाय

४. वक्रोक्ति सम्प्रदाय

५. औचित्य सम्प्रदाय।

यद्यपि ये सिद्धान्त पर्याप्त मौलिक है, परन्तु इनमें से अधिकांश का प्रेरणा स्त्रोत भरत मुनि का नाट्य शास्त्र ही है। उपर्युक्त पाँचो सिद्धान्तों में क्रमशः काव्य के पाँच पक्षों पर बल दिया गया है-

अलंकारः में काव्य शैली की बाह्य साज सज्जा पर

रीतिरू में काव्य के स्वाभाविक गुणों जैसे-शुद्धता, संक्षिप्तता, स्पष्ठता, नाद सौन्दर्य आदि पर,

ध्वनिः में उसके अर्थ की व्यंग्यात्मकता पर,

वक्रोक्तिः में अर्थ की लाक्षणिकता पर और

औचित्यः में विषय शैली के पारस्परिक संतुलन पर सर्वाधिक बल दिया गया है। पारस्परिक प्रतिद्वन्दिता एवं क्षेत्र विस्तार की इस प्रवृत्ति के कारण एक ओर ये सिद्धान्त अनिश्चित, अमर्यादित एवं अप्रामाणि ाक हो गये तो दूसरी ओर इससे साहित्य शास्त्र भी अव्यवस्थित हो गया।

नवीन व्याख्याएँ

इस युग में नवीन सिद्धान्तों के अविष्कार के साथ-साथ परम्परागत मतों की नवीन व्याख्याएँ भी हुई। इस क्षेत्र में सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्य आचार्य भट्टलोल्लट, श्री शंकुक, भट्टनायक तथा अभिनवगुप्त का है। इन्होंने मुख्यतरू रस सिद्धान्त की ही नई व्याखाएँ प्रस्तुत की। सभी ने भरत के सूत्र-"विभावनुभाव संचार व्यभिचारि संयोगाद रस निष्पत्ति" की व्याख्या की।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इस युग में नवीन सिद्धान्तों की स्थापना एवं पुराने सिद्धान्तों की नयी व्याख्या-इन दोनों ही क्षेत्रों में महत्वपूर्ण कार्य हुआ। वस्तुतः "इस युग को हम भारतीय साहित्य शास्त्र का स्वर्ण युग कह सकते हैं।"

"वैसे भी इस युग को भारतीय साहित्यशास्त्र का स्वर्ण युग माना जाता है।"

संशोधन काल (11 वीं शती से 17 वीं शती तक)

इस काल में मम्मट (११वीं, १२वी. शती) रूय्यक (१२वीं शती) हेमचन्द्र (१२वीं शती) रामचन्द्र गणचन्द (१२वीं शती) जयदेव (१३वीं शती) विश्वनाथ (१३वीं-१४वीं शती) भानुदत (१३वीं १४वीं शती) पंडितराज जगन्नाथ (१७वीं शती) प्रभूति आचार्य हुए। जिन्होंने किसी नये सिद्धान्त की स्थापना न करके पूर्व प्रचलित सिद्धान्तों में यात्किंचित संशोधन एवं समन्वय प्रस्तुत किया। इनमें प्रायरू भौतिकता का अभाव है। इस युग को भारतीय साहित्य शास्त्र की जरा अवस्था की सूचक कहा जा सकता है।

पद्यानुवाद काल (17 वीं से 19 वीं शती तक)

इस काल में संस्कृत का स्थान आधुनिक भाषाओं ने लिया था। अतः भारतीय साहित्य शास्त्र भी अनेक प्रादेशिक भाषाओं में विभक्त हो गया। यहाँ हम केवल हिन्दी की दृष्टि से इसे "पद्यानुवाद काल कह सकते हैं"

नवोत्थान काल (19 वीं शती के अन्तिम चरण से अब तक):

इस युग काल को भी हम मुख्यतरू तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं-

१. भारतेन्दु द्विवेदी युग (1875 से 1925 तक)

२. शुक्ल युग (1926 से 1940 तक)

३. शुक्लोत्तर युग (1941 से आज तक)

1. **भारतेन्दु युगः** प्रथम युग में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, महावीर प्रसाद द्विवेदी, मिश्रबन्धु श्यामसुन्दर दास आदि विद्वान आते है। भातेन्दु जी अपने नाटक ग्रन्थों में नया दृष्टिकोण के साथ प्राचीन एक नवीन के समन्वयक पर बल दिया। आगे चलकर विद्वानों ने भारतीय एवं पाश्चात्य काव्य शास्त्र की सामग्री को हिन्दी गद्य में प्रस्तुत किया है। यद्यपि इनमं नैतिकता का अभाव है किन्तु इन्होंने रीतिकालीन दृष्टिकोण, परम्परा और शैली को त्याग कर नये दृष्टिकोण और नयी शैली का प्रवर्तन करके स्तुत्य कार्य किया।

2. **शुक्ल युगः** शुक्ल युग में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के द्वारा परम्परागत साहित्य शास्त्र को नया रूप प्राप्त हुआ। उन्होंने आधुनिक युग की परिवर्तित परिस्थितियों को ध्यान में रखकर प्राचीन सिद्धान्तों की निजी दृष्टि से व्याख्या की। इस क्षेत्र में उनकी देन महत्वपूर्ण है।

3. **शुक्लोतर युगः** शुक्लोतर युग के साहित्य विद्वानों में डा. गुलाब राय, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी और डा. नगेन्द्र के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

डा. गुलाब राय ने भारतीय एवं पाश्चात्य सिद्धान्तों को सरल एवं सुबोध शैली में प्रस्तुत करके परवर्ती अनुसंधान कर्ताओं का मार्ग प्रशस्त किया।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का मुख्य क्षेत्र ऐतिहासिक एवं व्यावहारिक समीक्षा का है किन्तु इस क्षेत्र में भी उन्होने लेखों मे समन्वयात्मक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है। आचार्य वाजपेयी का भी क्षेत्र व्यावहारिक समीक्षा का ही है फिर भी उन्होंने अनके निबन्धों में भारतीय एवं पाश्चात्य साहित्य को निकट लाने का सुकृत्य प्रयास किया। डा. नगेन्द्र का असली क्षेत्र साहित्य शास्त्र है। इस रूप में उनकी देन तीन रूपों में स्वीकार की जा सकती है

१. एक तो उन्होंने परम्परागत भारतीय सिद्धान्तों की नयी व्याख्याएँ प्रस्तुत की जो आधुनिकता एवं मौलिकता से युक्त है।

२. इसी प्रकार ध्वनि रीति आदि के क्षेत्र में भी उन्होने अनेक पूर्व प्रचलित भ्रांतियों का निराकरण किया है। दूसरे उन्होने पाश्चात्य साहित्याशास्त्र को भी विस्तृत व्याख्याओं सहित हिन्दी में प्रस्तुत किया है तथा करवाया है।

३. तीसरे प्राचीन और नवीन भारतीय और पाश्चात्य तत्वों की पारस्परिक तुलना द्वारा उनके सापेक्ष महत्व का दिग्दर्शन कराया है। वस्तुतरू उन्होंने हिन्दी समीक्षा को एक ऐसी व्यापक भूमि प्रदान की है जिससे विश्व साहित्य शास्त्र के दो परम हीरो ग्रीक एवं संस्कृत साहित्य शास्त्र का गुम्फन उसमें हो जाता है।

उपर्युक्त विद्वानों के अतिरिक्त आचार्य बलदेव उपाध्याय, श्री रामदहिन मिश्र, डा. भगीरथ मिश्र, डा. गोविन्द त्रिगुणायत, डा. रामलाल सिंह, डा. भोलाशंकर व्यास, डा. प्रेम स्वरूप गुप्त, डा. आनन्द प्रकाश दीक्षित, डा. राममूर्ति त्रिपाठी, डा. गणपतिचन्द्र गुप्त, सत्यदेव चौधरी तथा डा. विजयपाल सिंह आदि विद्वानों ने भी अपने ग्रन्थों में भारतीय साहित्य शास्त्र के विभिन्न पक्षों एवं सिद्धान्तों का विवेचन आधुनिक दृष्टिकोण से प्रस्तुत किया है। अतरू इसमें कोई सन्देह नहीं कि परम्परागत भारतीय साहित्य शास्त्र हिन्दी में आकर और भी अधिक विकसित एवं प्रौढ़ हो गया है। साहित्य विज्ञान के रूप में वह शास्त्रीय रूढ़ियों एवं परम्परागत असंगतियों से युक्त होकर नये रूप में प्रस्तुत हुआ है।

टिप्पणी

"इस प्रकार भारतीय साहित्यशास्त्र आज अत्यन्त उन्नत एवं विकसित अवस्था में है।"

रस शब्द की व्युत्पत्ति एवं परिभाषा

काव्य के पढ़ने या सुनने के सहृदय को जिस आनन्द विशेष की अनुभूति होती है, काव्याचार्यो ने उसे ही रस कहा है। यह रस साधारण और लौकिक रसों से भिन्न और विलक्षण है। यह हृदय की वस्तु है, सहृदय व्यक्ति हृदय में उसका आस्वादन करता हैं।

रस को ब्रह्मानन्द सहोदर कहा गया है। रस की अनुभूति के समय सहृदय तन्मय हो जाता है। उस अवस्था में उसे अपने-पराये का ज्ञान नहीं रहता। रस दशा को हृदय की मुक्तावस्था कहा गया है। अस्तु रस दशा ब्रह्मानन्द की दशा तो नहीं, किन्तु उसके समान है। वह अलौकिक और वर्णनातीत है।

काव्य के सम्बन्ध में एक प्राचीन रूपक है, जिसमें कविता की तुलना लावण्यमयी युवती से की गई हैं।

शब्दार्थ उसका शरीर है, अलंकार आभूषण है, रीति अंगों का गठन है, गुण, स्वभाव और रस आत्मा है। आचार्यों ने काव्य के आत्म-तत्व के अनुसंधान में अलंकार, रीति, विक्रोक्ति, ध्वनि, रस आदि तत्वों को काव्य की आत्मा कहा है और अन्ततः रस को काव्य की आत्मा मानते हुए, आचार्य विश्वनाथ ने **"रसात्मक वाक्यं ही काव्य है"** की उद्घोषणा की- **"वाक्य रसात्मक काव्यम।"**

'रस का प्राचीन उपलब्ध ग्रन्थ "नाटयशास्त्र" है।' सूत्र शैली में इसमें रस शब्द का ही नहीं उसके अंग उपाँगों का भी सम्यक् विवेचन है। किन्तु भरत मुनि से पूर्व भी रस सिद्धान्त का आविर्भाव हो चुका था, यह भरत के नाट्यशास्त्र से भी स्पष्ट है।

डा. नगेन्द्र लिखते हैं - भरत मुनि से पूर्व रस सिद्धान्त की परम्परा निश्चय ही विद्यमान थी। भरत मुनि तक आते-आते उसे दो शताब्दियाँ अवश्य लगी होगी। भरत पूर्व युग का कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। रस स्वरूप का उपलब्ध ग्रन्थ नाट्यशास्त्र ही है इसमें रसों का वर्णन छठे अध्याय में और संचारी व सात्विक भावों का निरूपण सातवें अध्याय में है।

भरत मुनि ने नाटक को वाड्मय को सर्वश्रेष्ठ रूप माना है और उसका प्राय रस स्वीकार किया है। कोई भी नाट्याङ रस के बिना चल नहीं सकता। भरतमुनि के बाद रस स्वरूप के इतिहास को निम्न तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है

१. ध्वनि पूर्ववर्ती काल-आरम्भ से लेकर रूद्रट तक।

२. ध्वनि काल-आनन्द वहीन से लेकर महाराज भोज तक

३. ध्वनि परवर्ती काल-मम्मट से लेकर पंडितराज जगन्नाथ तक।

1. ध्वनि पूर्ववर्ती काल

इस काल में भरत मुनि के पश्चात् रस के सम्बन्ध में दो प्रकार की विचारधाराओं का उदय हुआ-एक विरोधी धारा और रसवादी धारा। इसका व्यापक रूप से प्रवर्तन होने के पश्चात् ही यह विरोध आरम्भ होता है। रस विरोधी आचार्यो में भामह, दण्डी, वामन, उद्भट, रूदट आदि आते हैं और रसवादी धारा के आचार्यो में **भट्टलोल्लट, श्री शंकुक, भट्टनायक, अभिनव गुप्त आदि आते हैं** अन्होंने भरत मुनि के रस सूत्र की विस्तृत व्याख्याएँ करके रस सिद्धान्त का विकास किया।

रस विरोधी धारा

भामह- आचार्य भामह ने सबसे पहले अंलकारों को काव्य का प्राणतत्व घोषित किया और रसवत् प्रेयस तथा ऊजेस्विन अंलकारों के प्रसंग में रस का वर्णन किया। यहाँ ध्यातव्य है कि

भारतीय साहित्यशास्त्र का विकासक्रम एवं रस का स्वरूप

रस विरोधी आचार्य भी रस की पूर्ण उपेक्षा नहीं कर सके, उन्होनें रस की सत्ता तो स्वीकार की है परन्तु उसे प्राणतत्व नहीं माना है। इसीलिये उन्हें रस विरोधी आचार्य कहा जाता है। अन्यथा इन आचार्यो में भी रस के प्रति व्यापक दृष्टिकोण प्राप्त होता है।

भामह ने रस का अलंकारों में पूर्ण अन्तर्भाव कर लिया और रसवत अलंकार में उन्होने केवल श्रृंगार रस का वर्णन किया है अन्य रसों की उपेक्षा कर दी। इसका कारण यह है कि काव्य को शब्दार्थ रूप मानकर चले हैं। उनके लिये काव्य सौन्दर्य का मूल अलंकार है। रस तथा भावादि भी शब्दार्थ के चमत्कार की परिधि में आ जाते हैं और उसी रूप में उन्हें ग्राह्य है क्योंकि उनका दृष्टिकोण वस्तुपरक है। इसीलिये रस उनके लिये गौण होकर रह जाता है।

दण्डी: दण्डी की दृष्टि भामह की अपेक्षा अधिक उदार है। सिद्धान्ततरू तो वह भी शब्दार्थ में ही काव्य का मूल सौन्दर्य मानते हैं और अलंकार को ही काव्य का सौन्दर्य पर्याय मानते हुए रस का रसवत् अलंकार के अन्तर्गत ही वर्णन करते हैं, किन्तु जहाँ भामह ने श्रृंगार रस का एक अपुष्ट उदाहरण देकर रस विषय को चलता कर दिया है, वहाँ दण्डी ने आठों रसों का रूचि पूर्वक वर्णन किया है किन्तु उनके उदाहरणों में विभाव, अनुभावों, व्याभिचारो भावों आदि के अत्यन्त स्पष्ट चित्रण द्वारा रस परिपाक प्रस्तुत किया है। इसके अतिरिक्त माधुर्य गुण के विवेचन में भी उनके रस विषयक दृष्टिकोण का परिचय मिलता है। उनकी दृष्टि अपेक्षाकृत अधिक अन्तर्मुखी है।

उद्भट्टः उद्भट्ट ने भी रस भवादि का वर्णन रसावदादि अलंकारो के अन्तर्गत करके भाभट्ट का ही अनुकरण किया है, परन्तु इन्होने शांत रस को मिलाकर नौ रसों का उल्लेख किया है।

वामनः दण्डी की रीति विषयक धारणाएं वामन के द्वारा और स्पष्ट हुई। वामन की दृष्टि अधिक एकांगी है। उन्होनें रस का प्रयोग काव्यालंकार सूत्र के एक ही स्थान पर किया है और अर्थ-गुण कान्ति का लक्षण करते हुए लिखा है

दीप्त रसत्वं कान्तिः
दीप्ता रसा श्रृंगारदयो यस्य सदीप्तरसः।

अर्थात् दीप्त रसत्व ही कान्ति है। जिसमें श्रृंगार आदि रस दीप्त हो वह दीप्त रस हुआ। इसके आगे इसी प्रकार अन्य रसों का भी उल्लेख है।

वामन ने दण्डी की अपेक्षा रस का कम वर्णन किया। उनकी दृष्टि भामह की भाँति वस्तुपरक थी। यद्यपि सिद्धान्त की दृष्टि से तो काव्य के अन्तरंग तत्व के रूप में प्रतिष्ठित हो जाने से रस का थोड़ा उत्कर्ष ही हुआ परन्तु प्रत्यक्षतरू वामन का रस के प्रति विशेष अनुराग न था।

रूट्टः रूट भी यद्यपि अलंकारवादी थे तथापि इनकी रस के प्रति उपेक्षा नही थी। उन्होंने रस का पूरे चार अध्यायों में वर्णन किया है और रसों के क्षेत्र में अनेक नवीन उद्भावनाएं की है। उनका वर्णन स्वतन्त्र है, रसवादादि अलंकारों के अन्तर्गत नहीं। उन्होंने काव्य में रस के महत्व को अनेक प्रकार से घोषित किया है फिर भी उनका पक्षपात अलंकारों के प्रति है इसीलिए वे रस विरोधी आदि पर कोई विचार नहीं किया। काव्य का लक्षण 'ननु शब्दार्थो काव्यम्श् देने के कारण उनकी दृष्टि भी देहवादी है। फिर भी कहा जा सकता है कि रूट्ट देहवादी और आत्मवादी धाराओं के संगम पर खड़े थे। उनके समय तक झूमते आते रस के प्रति आकर्षण बढ़ने लगा था।

टिप्पणी

रसवादी काल: ध्वनि पूर्ववर्तो काल में अलंकारवादी रस विरोधी धारा के साथ-साथ रसवादी धारा भी प्रवाहित हो रही थी। इसके प्रथम टीकाकार भट्टलोल्लट थे। तदुपरान्त श्री शंकुक, भट्टनायक तथा अभिनव गुप्त भरत मुनि के -

"विभावादिका व्यभिचारी संयोगाद्रस निष्पत्तिः।"

सूत्र की व्याख्या करके रस की प्रतिष्ठा की।

रूद्रभट्टः रूद्रभट्ट ने रस का विशेषकर श्रृंगार रस का विस्तार से वर्णन किया है। श्रृंगार तिलक के पहले परिच्छेद में नव रस भाव तथा नायक-नायिका भेद का वर्णन है दूसरे में विप्रलम्भ श्रृंगार का तथा तीसरे में अन्य रसों का उन्होने स्पष्ट लिखा है।

यामिनी वेन्दुना मुक्ता नारी च रमणं बिना।
लक्ष्मीरिव प्रछते त्यागाश्री, वाणी भाति नीरसी॥

अर्थात् जैसे चन्द्रमा के बिना रात्रि, रमण के बिना नारी, त्याग के बिना लक्ष्मी शोभा नहीं देती, उसी प्रकार रस के बिना कविता भी शोभा नहीं देती।

2. ध्वनि काल (850-1050) ई.

ध्वनि काल में रस का सैद्धान्तिक उत्कर्ष आनन्द वहनि से मम्मट तक रखा जा सकता है। इनके अन्तर्गत आनन्द वहनि, भट्टनायक, भट्टतौत, राजशेखर, कुन्तक, अभिनव गुप्त, राजशेखर धनंजय, क्षेमेन्द्र, महिमभट्ट, भोजराज और मम्मट आदि आचार्य आते हैं। इस काल में रस की स्थापना ध्वनि के रूप में हुई। इस युग में भट्टनायक, भट्टतति, अभिनव गुप्त, राजशेखर, धनंजय और महिमभट्ट ने प्रत्यक्ष रूप से रस सिद्धान्त का मंडन किया। आनन्द वहनि ने रस ध्वनि के रूप में तथा क्षेमेन्द्र ने रसान्दित औचित्य के रूप में किया है वहाँ भोज की दृष्टि समन्वयवादी है फिर भी रस के प्रति उनका विशेष आग्रह है। कुन्तक ने वक्रोक्ति के प्रति अपना आग्रह दिखाया है परन्तु जितना विरोध ध्वनि में है इतना रस में नहीं है वरन रस के प्रति उनके मन में विशेष सम्मान है??

भट्टनायक - भट्टनायक ने साधारणीकरण सिद्धान्त की उदभावना करके काव्यास्वाद की मौलिक समसरूा का समाधान किया। भट्टतौत ने भी काव्यावादी रूप से रस का समर्थन किया हैं। उन्होने स्पष्ट शब्दों में रस चक्र के अन्तर्गत कवि के अनुभव का समावेश किया है। इस प्रकार साधारणीकरण की प्रक्रिया में नायक ओर सहृदय के बीच माध्यम रूप में कवि को प्रतिष्ठित किया है।

अभिनव गुप्त - रस के प्रमुख आचार्य है अभिनव गुप्त। वह ध्वनिवादी होते हुए भी रस के प्रति आग्रहशील है। डा. नगेन्द्र उन्हें रसवादी ही मानते हैं। अभिनव गुप्त ने रस सिद्धान्त में अनेक महत्वपूर्ण उदभावनाएं की और शान्त रस के प्रति अपना विशेष आग्रह दिखाया है। साथ ही श्रृंगार का भी विस्तार से वर्णन किया है। उनका रस विवेचन व्यापक और गंभीर होने के साथ-साथ अत्यन्त प्रबल है, इसी से उनका रसशास्त्र में अन्यतम स्थान है।

राजशेखर - राजशेखर का मुख्य विषय कवि शिक्षा है। अभी रस विवेचन यद्यपि संक्षिप्त है किन्तु रस के महत्व का उन्होने निर्विवाद स्वीकार किया है। वह स्पष्ट लिखते हैं:

"शब्दार्थो ते शरीर-रस आत्मा।"

उन्होंने रस की एकता आत्मपरक स्थिति स्वीकार की है एवं रस का कविगत रूप में वर्णन किया है।

धनंजय - धनंजय ने इसको शब्दार्थ का मूल और एकमात्र तात्पर्य कहा है उनका रस से अभिप्राय उस आनन्दानुभूति से है जो विभावादि से युक्त स्थायी के कारण होती है।

महिमभट्ट - महिमभट्ट ने भी ध्वनिवाद का खंड का करके काव्य की रसात्मकता का विभ्रन्ति शब्दों में अनुमोदन किया। उन्होंने काव्य की आत्मा रस को ही माना

"काव्यस्यात्मनि संज्ञिनि रसादि
रूपे न कस्यचिद्धिमतिः।"

महिमभट्ट का स्पष्ट मत है कि रस के अभाव में प्रहेलिका आदि शेष रह जाते हैं-रसहीन काव्य नहीं होता।

इसी आधार पर वे काव्य का कोई भेद स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार जहां रस होता है, वहां गौणता का प्रश्न ही नहीं उठता, रस का अप्रत्यक्ष समर्थन करने वाले आचार्य इस वर्ग में आनन्द वहनि और क्षेमेन्द्र आते हैं। आनन्द वहरि ने ध्वनि का समर्थन किया है और क्षेमेन्द्र ने औचित्य का। किन्तु फिर भी रस के प्रति उसकी प्रगाढ़ आस्था थी। उन्होंने रस के महत्व की विभ्रन्ति घोषणा की फिर भी उसका माध्यम ध्वनि नहीं रहा है। क्षेमेन्द्र ने रस की चर्चा औचित्य के आधार पर की है। वह ऐसे ही काव्य को काव्य पद का अधिकारी मानते हैं, जो रस सिद्ध हो

"औचित्य रस सिद्धस्य स्थिर काव्यस्य जीवितम"

रस सिद्ध काव्य का स्थिर जीवन तो औचित्य ही है। उनका मत है कि रस के रूप अवयवों-आलम्बन उद्दीपन, अवभाव, सचारी भाव आदि के बहाने में औचित्य का पूर्ण निर्वाह होना चाहिए।

भोजः भोज ने काव्य में सभी काव्यांको के समन्वय पर विशेष बल दिया है फिर भी वाड्मय के तीन भेद करके वक्रोक्ति, रसोक्ति और स्वाभावोक्ति में उन्होने रसोक्ति को ही अधिक मनोग्राही माना है। फिर भी रस का पक्षपात करते हुए भोज की दृष्टि समन्वयात्मक ही है। यद्यपि विद्वान उन्हें रस विरोधी मानते हैं किन्तु इनके ग्रन्थ वक्रोक्ति जीवितम को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि वह ध्वनि के जितने विरोधी थे उतने रस के नहीं। कुन्तक ही प्रथम आचार्य है जिन्होनें काव्य लक्षण और काव्य प्रयोजनों में रस को स्थान दिया। उन्होंने काव्य की वस्तु को स्पष्ट रूप से रस स्वरूप माना है। उन्होने रसवत् अलंकार का निषेध करके रस की अलंकार्यता का प्रतिपादन किया है। इस प्रकार कुन्तक ने रस का सर्वप्रथम सही अर्थो में पूर्ण विवेचन किया।

3. ध्वनि परवर्ती काल

ध्वनि परवर्ती काल में मम्मट ने महिम भट्ट आदि के विरोधी तर्को का खण्डन किया। इस काल की चार प्रवृत्तियाँ दिखाई देती है

१. रस ध्वनिवादी प्रवृत्ति

२. अलंकारवादी प्रवृत्ति

३. ध्वनिवाद के माध्यम से शुद्ध रसवाद के प्रतिपादन करने की प्रवृत्ति

४. कवि शिक्षा की प्रवृत्ति

टिप्पणी

इन चारों प्रवृत्तियों का अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि इस काल में परम्परा चाहे किसी भी सम्प्रदाय की अपनायी गयी हो परन्तु प्रत्येक आचार्य का विशेष ध्यान रस पर ही केन्द्रित था। प्रत्येक आचार्य ने रस के महत्व का ही प्रतिपादन किया है।

पंडितराज जगन्नाथः पंडितराज जगन्नाथ ने काव्य रस की आनन्दमयता के प्रभाव में श्रुति का उदाहरण देकर रस को आत्मानन्द के समान तक घोषित कर दिया। उनके अनुसार वह आत्मा आनन्द स्वरूप है, रस को पाकर ही वह आनन्द स्वरूप होता है। इसी तरह उन्होंने ध्वनि के पाँच भेदों में रस ध्वनि को सर्वाधिक रमणीय मानते हुए रस को रस ध्वनि की आत्मा माना है।

इनके अतिरिक्त रूय्यक, जयदेव तथा अप्पय दीक्षित आदि इस काल के अलंकारवादियों का ध्यान रस की अपेक्षा अलंकार ध्वनि की ओर ही अधिक केन्द्रित होने पर भी रस को अपने पूर्ववर्ती अलंकारियों की अपेक्षा अधिक आग्रह से ग्रहण किया है। जयदेव ने यद्यपि स्पष्ट रूप से लिखा है –

अंगीकरोति यः काव्यं शब्दार्था वनलंकृति।
असौ न मान्यते कस्मादनुष्णामनलंकृती।।

अर्थात विद्वान अलंकारहीन शब्दार्थ में भी काव्यत्व स्वीकार करता है वह कृति विचारक अग्नि को उष्णताहीन क्यों नहीं मानता? उनका संकेत मम्मट की ओर था। अलंकारवादी होते हुए भी वे रस के प्रति अनुदार न थे।

आचार्य विश्वनाथः रसवादी आचार्य विश्वनाथ ने रस का समस्त वाड्मय में महत्व प्रतिपादित किया है उन्होंने काव्य के लक्षण से रस का प्रतिपादन किया हैरू

"वाक्यं रसात्मकं काव्यम्।

उनके अनुसार रीति, गुण अलंकार रूपी रस का उत्कर्ष करते हुए ही काव्य का उत्कर्ष करते हैं।

उत्कर्ष हेतवा प्रोक्ता गुणलंकाररीतयः

कवि शिक्षा से सम्बन्धित ग्रन्थों का उद्देश्य उदीयमान कवियों और सामान्य काव्य रसिकों के लिए छन्द सिद्धि शब्द सिद्धि श्रेय सिद्धि आदि के विषयों की शिक्षा देना ही है।

हिन्दी के काव्यशास्त्र में भी संस्कृत के आचार्यों की भाँति एवं अलंकारों सम्प्रदायों पर विशेष बल दिया गया। रीतिकाल के प्रर्वतक केशवदास यद्यपि अलंकारवादी थे। परन्तु उन्होंने अपनी प्रसिक प्रियाष् में रस का प्रतिपादन किया है। भिखारीदास ने भी काव्यांगो का विवेचन किया है। कुलपति मिश्र ने रस का प्रतिपादन किया है। इस रीति–कालीन हिन्दी आचार्यों का सर्वाधिक योगदान यह है कि उन्होंने संस्कृत के समस्त काव्याशास्त्र को हिन्दी में अवतरित कर दिया है और इस प्रकार हिन्दी काव्याशास्त्र की अभिवृद्धि की।

1.9 रस शब्द की व्युत्पत्ति एवं परिभाषा

संस्कृत में रस शब्द की व्युत्पत्ति "रसस्यते असों इति रसाः" के रूप में की गई है अर्थात् "जो चखा जाए" या जिसका आस्वादन किया जाए अथवा जिससे आनन्द की प्राप्ति हो वही 'रस' है।

सामान्य भाषा में श्रसश् का अर्थ 'स्वाद' से लिया जाता है परन्तु साहित्य में 'रस' का आशय मन में उत्पन्न होने वाले उस आनन्द से लिया जाता है जो काव्य को पढ़ने सुनने अथवा अभिनय देखने से मन में उत्पन्न होता है।

भरत मुनि ने सर्वप्रथम अपने "नाटयशास्त्र" में इसका स्वरूप बताया है।

रस की निष्पत्ति के सम्बन्ध में उन्होने लिखा है

विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः

अर्थात विभाव अनुभाव तथा व्यभिचारी भाव के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। इस प्रकार काव्य को पढ़ने, सुनने या अभिनय देखने पर विभाव आदि के संयाग से उत्पन्न होने वाला आनन्द ही श्रसश् है। विभाव का अर्थ है रति, करूण आदि भावों के कारण। ये दो प्रकार के होते हैं-(१) आलम्बन, जिनके आधार से भाव जागृत होते हैं जैसे- नायक-नायिका आदि और (२) उद्दीपन जो भावों को उद्दीप्त अर्थात् उत्तेजित करते हैं। उदाहरण के लिए वसन्त, उपवन, चाँदनी आदि। अनुभाव भावानुभूति के अनुक्रम है अर्थात् उसके व्यक्त प्रभाव है जैसे-भूक्षेप, स्मिति, कटाक्ष आदि । व्यभिचारी अस्थायी भाव की पुष्टि करते हैं। इस प्रकार विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों का संयुक्त रूप में साक्षात्कार करके दर्शन के मन में एक उत्कट आनन्दमयी भावना का संचार होता है, यही रस का काव्यानन्द है।

एक स्पष्ट उदाहरण लीजिए - "कुशल वट और नटी दुष्यन्त और शकुन्तला के रूप में हमारे सम्मुख उपस्थित होते हैं ये पहले पहल तपोवन के रमणीय कुंजी में मिलते हैं (विभाव)। दोनों एक- दूसरे के आल्हादकर सौंदर्य को देखकर चकित हो जाते हैं और तृषित उत्सुक नेत्रों से एक दूसरे की ओर देखते हैं-अनिच्छापूर्ण जाती हुई शकुन्तला चोरी-चोरी दृष्टिपात करती है (अनुभाव। वियोग में कभी उत्कण्ठा और कभी निराशा से व्यग्र होकर वे एक दूसरे से मिलने को आतुर हो उठते हैं (व्यभिचारी भाव)। सौभाग्य से शकुन्तला, सखी सहायता से पत्र द्वारा दृष्यन्त पर अपना प्रेम प्रकट करने का अवसर प्राप्त करती है। इतने में ही दुष्यन्त वही आकर सहसा उपस्थित हो जाता है और इस प्रकार दोनो प्रेमियों का संयोग हो जाता है। जब यह सब (विभाग, अनुभाव, व्यभिचारी भाव आदि का संयोग) कविता, संगीत, रंग-वैभव आदि की सहायता से, जिनको भरत ने नाटयधर्मो कहा है, मंच पर प्रदर्शित किया जाता है तो प्रेक्षक के हृदय में वासना रूप से स्थित रति स्थायी भाव जागृत होकर उस चरम सीमा तक उद्दीप्त हो जाता हैं और चरमावस्था को प्राप्त उसका यह भाव उसे एक आनन्दमयी चेतना में विभोर कर देता है। यही आनन्दमयी चेतना रस ह।" और स्पष्ट शब्दों में आलम्बन विभाव से उबृद्ध उद्दीपन से उद्दीप्त, व्यभिचारियों से परिपुष्ट तथा अनुभावों से परिव्यक्त सहृदय का स्थायी भाव ही रस-दशा को प्राप्त होता है-

"विभावेनानुभावेन व्यक्तः संचरिणा तथा।
रसतामेति रत्यादिः स्थायिभावरू संचेतसाम्।।"

इस प्रकार काव्य पढ़ने, सुनने या अभिनय देखने पर विभाव आदि के संयोग से जिस आनन्द की प्राप्ति होती है, उसे ही 'रस' कहा जाता है। रस को "काव्य की आत्मा" भी कहा जाता है। काव्य में रस का वहीं स्थान है जो शरीर में आत्मा का है। जिस प्रकार आत्मा के अभाव में प्राणी का अस्तित्व सम्भव नहीं है, उसी प्रकार रसहीन कथन को काव्य नहीं कहा जा सकता है। इस प्रकार ष्रस काव्य की आत्मा है।"

1.10 रस के अंग या अवयव

1. **रस के अंग**

   (१) स्थायी भाव

   (२) अनुभाव

टिप्पणी

(३) विभाव

(४) संचारी भाव

आचार्य भरत मुनि ने विभाव, अनुभाव और संचारी भावों को रस के अवयव अथवा अंग माना है। इस प्रकार रस के चार अवयव है:

(१) स्थायी भाव

(२) अनुभाव

(३) विभाव

(४) संचारी भाव

स्थायी भावः

अर्थ: मनुष्य के हृदय में हर समय रहने वाले भाव 'स्थायी भावश् कहलाते हैं। ये सुपत अवस्थी में रहते हैं किन्तु उचित अवसर पर स्वयं जाग्रत व उद्दीप्त हो जाते हैं और विभाव, अनुभाव और संचारी भावों द्वारा पुष्ट होकर रस-विशेष में परिणत हो जाते हैं। अन्य शब्दों में-अविरूद्ध विरूद्ध भाव जिसे छिपा न सके, वह आस्वाद का मूलभूत भाव, स्थायी है। यही विभाव, अनुभाव और संचारियों के संयोग से रस-रूप में परिणत होता है।

आचार्य धनंजय के अनुसार: जो भाव विरोधी एवं अविरोधी भावों से विच्छिन्न नहीं होता, अपितु विपरीत भावों को अपने में शीघ्र मिला लेता है उसका नाम स्थायी है। उसकी स्थिति लवणाकार के समान है, जो प्राप्त सभी वस्तुओं को लवण बना देता है -

"विरूद्धैरविरूद्धैर्वा भावैविच्छिंद्यते नयः।
आत्मभाव नयव्यन्यान् स स्थायी लवणाकारः।"

आचार्य विश्वनाथ के अनुसार: अविरूद्ध या विरूद्ध भाव जिसे छिपा न सके, वह आस्वाद का मूलभूत भाव स्थायी है

"अविरूद्धाविरूद्धा वायं तिरोद्यातुक्षमाः ।
आस्वादकुरकन्दोलसौ भावः स्थायीति सम्मतः ।

पंडितराज जगन्नाथ: का कथन कुछ अधिक स्पष्टता लिये स्थायी भाव की महिमा विज्ञप्त करता है-

जिस भाव का स्वरूप सजातीय एवं विजातीय भावों से तिरस्कृत न हो सकें और जब तक रस का आस्वादन हो, तब तक जो वर्तमान रहे, वह स्थायी भाव कहलाता है:

सजातीय विजातीयै रतिरस्कृत मूर्तिमान
यावद्रस वर्तमानः स्थायिभाव उदाहरणतः

पण्डितराज ने अपनी परिभाषा में स्थायी संज्ञा का यह आधार निर्दिष्ट किया है कि काव्य अथवा नाटक के अनुशीलन अथवा प्रेक्षपण की अवधि में सामाजिक का चित अनेक अवान्तर प्रसंगों के बीच भी उसे मूलभूत भाव की प्रतीति से ही चमत्कृत होता रहता है।

रामचन्द्र शुक्ल ने भी: संस्कृत के आचार्यो द्वारा निरूपति स्थायी भाव के इसी प्रकार के श्स्थायित्वश् का सामान्यतया अनुमोदन किया है।

स्थायी भाव एवं उनसे सम्बन्धित रस: एक स्थायी भाव का सम्बन्ध एक रस से होता है। इनकी संख्या नौ है, किन्तु कुछ आचार्यों ने इनकी संख्या ग्यारह निर्धारित की है। ये ग्यारह स्थायी भाव और इनसे सम्बन्धित रसों का परिचय इस प्रकार है:

स्थायी भाव	रस		स्थायी भाव	
१.	रति	श्रृंगार	२.	हास
३.	शोक	करूण	४.	क्रोध
५.	उत्साह	वीर	६.	भय
७.	आश्चर्य	अद्‌भुत	८.	जुगुप्सा, ग्लातिन
९.	निर्वेद	शान्त	१०.	वीभत्स
११.	देवविषयक रति	भक्ति	१२.	वात्सलय

इनमें अन्तिम दो स्थायी भावों (वत्सलता तथा देवविषयक रति) को श्रृंगार के अन्तर्गत सम्मिलित किया गया है प्रत्येक स्थायी भाव का संक्षिप्त परिचय निम्नलिखित है -

रतिः स्त्री-पुरूष की एक-दूसरे के प्रति उत्पन्न प्रेम नामक चितवृति को श्रतिश् स्थायी भाव कहते हैं।

हासः रूप, वाणी एवं अंगों के विकारों को देखने चितमन, विकसित होना 'हास' कहलाता है।

शोकः प्रिय वस्तु (इष्टजन, वैभव आदि) के नाश इत्यादि के कारण उत्पन्न होने वाली चित की व्याकुलता को 'शोकश् कहते हैं।

क्रोधः असाधारण अपराध, विवाद, उत्तेजनापूर्ण अपमान, आदि से उत्पन्न मनोविकार को 'क्रोध' कहते

उत्साहः मन की वह उल्लासपूर्ण वृति, जिसके द्वारा मनुष्य तेजी के साथ किसी कार्य को करने में लग जाता है, 'उत्साह' कहलाती है। इसकी अभिवृत्ति शक्ति, शौर्य एवं धैर्य के प्रदर्शन में होती है।

भयः हिंसक जन्तुओं के दर्शन, अपराध, भयंकर शब्द, विकृत चेष्टा और रौद्र, आकृति द्वारा उत्पन्न मन की व्याकुलता को ही 'भयश् स्थायी भाव के रूप में परिभाषित किया जाता है।

आश्चर्यः अलौकिक वस्तु को देखने, सुनने या स्मरण करने से उत्पन्न मनोविकार 'आश्चर्य' कहलाता है।

जुगुप्साः किसी अरूचिकर या मन के प्रतिकूल वस्तु को देखने अथवा उसकी कल्पना करने से जो भाव उत्पन्न होता है वह श्जुगुत्साश् कहलाता है।

निवेदः सांसारिक विषयों के प्रति वैराग्य की उत्पत्ति 'निर्वेद' कहलाती है। वत्सलतारू माता-पिता का सन्तान के प्रति अथवा भाई-बहन का परस्पर सात्विक प्रेम ही श्वत्सलताश् कहलाता है।

देव-विषयक रतिः ईश्वर में परम अनुरक्ति ही 'देवविषयक रति' कहलाती है।

रस निष्पत्ति में स्थायी भाव का महत्वः स्थायी भाव ही परिपक्व होकर रस दशा को प्राप्त होते हैं, इसलिए रस-निष्पत्ति में स्थायी भाव का अधिक महत्व है। अन्य सभी भाव और कार्य स्थायी भाव की पुष्टि के लिए ही होते हैं।

1.11 विभाव

अर्थः जो कारण (व्यक्ति, पदार्थ आदि) दूसरे व्यक्ति के हृदय में स्थायी भाव को जाग्रत तथा उद्दीप्त करते हैं उन्हें 'विभाव' कहते हैं।

भरत मुनि ने नाटयशास्त्र में विभाव की व्याख्या की है और इसे रस निष्पत्ति के लिए आवश्यक तत्व माना है। वस्तुतरू भरत से लेकर आधुनिक काल तक संस्कृत तथा हिन्दी के आचार्यो और विवेचकों ने विभाव को इसी रूप में माना है।

टिप्पणी

विश्वनाथ का लक्षण है:

"रत्यायुद्बोधकाः लोके विभावारू काव्यानाटत्रयोंरू।"

अर्थात् सामाजिक के अन्तर्गत रति हास आदि को जो आस्वान के योग्य उत्पन्न करते हैं

देव भी इस प्रकार कहते हैं:

"जे बिसेब्य करि रसनिको उपजावत है भाव।"

जो व्यक्ति, पदार्थ अथवा ब्रह्म विकास अन्य व्यक्ति के हृदय के भावों आश्रय से रस प्रकट होता है। अतरू यह कारण विमित अथवा हेतु कहलाते हैं। रस को अलौकिक मानने के कारण आदि नाम न देकर असाधारण रूप से विभाव कहा जाता है।

यह विभाव आश्रय में भावों को जागृत भी करते हैं, और उन्हें उद्दीप्त भी करते हैं।

विभाव के भेद

विभाव आश्रय के हृदय में भावों को जाग्रत करते हैं और उन्हें उद्दीप्त भी करते हैं। इस आधार पर विभाव के निम्नलिखित दो भेद है:

(क) आलम्बन व (ख) उद्दीपन

उदाहरणतः पुष्पवाटिका में राम और जानकी घूम रहे है। जानकी के साथ उनकी सखियाँ है और राम साथ उनके अनुज। इस दृश्य का तुलसीदास ने निम्नलिखित पंक्तियों में ही चित्र उपस्थित किया है, उसमें राम सीता के हृदय में जाग्रत रति भाव के आलम्बन तथा सीता की सखियाँ, जो उन्हें राम के दर्शन में सहायता पहुँचा रही है, उद्दीपन तथा सीता का संकोच, उनका चकित होना आदि अनुभव है

"चितवन चकित चहूँ दिसिं सीता।
कहं गये नृप किसोर मन चीता।
जहाँ बिलोक मृगसावक नैनी।
जनु तहं बरिस कमल सित स्त्रेनी।
लता ओट तब सखिन लखाये।
स्यामल गौर किसोर सुहाये।
देखि रूप लोचन ललचाने।
हरपे जनु निज निधि पहिचाने।"

इस प्रकार विभाव के दो उपभेद होते हैं

(क) आलम्बन विभाव एवं (ख) उद्दीपन विभाव।

आलम्बन विभावः जिस व्यक्ति अथवा वस्तु के कारण किसी व्यक्ति में कोई भाव जाग्रत होता है उस व्यक्ति अथवा वस्तु को उस भाव का 'आलम्बन विभाव' कहते हैं, जैसे-यदि किसी व्यक्ति के मन में सांप को देखकर 'भयश् नामक स्थायी भाव जाग जाए तो यहां 'सांप' उस व्यक्ति में उत्पन्न 'भयश् नामक स्थायी भाव का आलम्बन विभाव होगा।

अन्य आचार्यों के अनुसार -

आचार्य विश्वनाथ के अनुसारग

"आलम्बनों नायकादिस्तमालम्व्य रसोद्रमात।"

इसी का भावानुवाद देव इस प्रकार करते हैं -

"रस उपजे आलम्बि जिहि सो आलम्बन होई।"

जिस व्यक्ति अथवा वस्तु के कारण किसी व्यक्ति में कोई भाव जाग्रत होता है, उस व्यक्ति अथवा वस्तु को उस भाव का आलम्बन विभाव कहते हैं। आलम्बन विभाव ही वास्तविक रसभूमि है। इसके बिना काव्य रचना और काव्यास्वादन दोनो ही असम्भव है। जहाँ आलम्बन स्पष्ट नहीं होता, वहाँ प्रसंगानुकूल इसका आरोप कर लिया जाता है। यह आलम्बन दो रूपो में उपस्थित होता है। कभी तो पात्र-विशेष के भावों के आलम्बन होते हैं और कभी स्वयं कवि के भावों के। उदाहरण के लिए प्रसाद की निम्नांकित पंक्तियों में स्वयं कवि ही आलम्बन है -

"कुसुमाकर रजनी के जो,
पिछले पहरो में खिलता।
उस मृदुल शिरीष सुमन सा,
मै प्रातरू धूल में मिलता।"

भिन्न-भिन्न आलम्बनों के प्रति एक ही भाव में अन्तर आ सकता है। जैसे-अपने से आदरणीय के प्रति प्रेम, श्रद्धा का, बराबर के प्रति प्रीति का, दीन के प्रति करूणा का रूप धारण कर लेता है। इसी प्रकार भिन्न-भिन्न भावों का एक ही आलम्बन हो सकता है और कोई सन्त उसे उपदेश देने और क्षमा करने के लिए तत्पर हो सकता है, उदाहरणतरू निम्नांकित वर्णन में एक राम को ही अनेक लोगों ने अनेक प्रकार से देखा है -

"देखहि रूप महा रूधीरा। मनेहुं बीर रस हारे समीरा।
डरे कुटिल नृप प्रभुहि निहारी। मनहुं भयानक मुरति भारी।
रहे असुर छल छोविपबेवा। तिन्ह प्रभु प्रकट काल सम देखा।"

पृथक रस के विचार से आलम्बन भी पृथक हो जाते हैं। काव्याशास्त्रों में इनके रूप आकार प्रकार तथा भेद आदि का विस्तृत वर्णन किया गया है।

उदाहरणत - श्रृंगार रस के आलम्बन, मधुर, सुकुमार, रूप यौवन सम्पन्न तन्वंगी तथा तरूण होते हैं, जिन्हें नायिका तथा नायक कहते हैं। इनके भी स्वभाव, आयु, कार्य आदि के अनुसार अनेकानेक भेद है। इसी प्रकार विकृत आकार वाले, दूसरे की चेष्टाओं का अनुकरण करने वाले हास्य रस के आलम्बन होते हैं। त्यागी सत्य-सम्पन्न, शूरवीर, विक्रमशील व्यक्ति वीर रस के विचित्र आकृति और आकार वाले अद्‌भुतरस के बहुबाहु भीमदंष्ट तथा क्रूर, उद्धात एवं शठ आदि रौद्र के, कृश, विषण्ण मलिन, शेगी, दु:खी तथा दरिद्रयोपतहत करूण रस के, निन्दित आकृति, वेश, कर्मवाले अथवा रोगी पिशाचादि वीभत्स रस के आलम्बन होते हैं। इसी प्रकार इनके अन्य भेद उपस्थित किये जा सकते हैं।

उद्दीपन विभाव: व्यक्ति के हृदय में जाग्रत स्थायी भावों को अधिकाधिक उद्दीप्त तथा तीव्र करने वाला उद्दीपन विभाव कहलाता है, जैसे-साँप की फँफकार।

अन्य शब्दों में:

आचार्य विश्वनाथ के शब्दों में

"उद्दीपनविभावास्य रस मुद्दीपयन्ति ये।
आलम्बनस्य चेष्टाद्याः देशकालदयस्तथा।"

अर्थात रस को उद्दीप्त करने वालीर आलम्बन की चेष्टादि तथा देश काल की स्थितियाँ उद्दीपन विभाव है।

टिप्पणी

देव के अनुसार भी -

"रसहिं जगावे दीप ज्यों उद्दीपन कहि सोई।"

आश्रय के हृदय में उत्पन्न रति आदि स्थायी भाव को अधिकाधिक, उद्दीप्त तथा तीव्र करने वाले कारण उद्दीपन विभाव कहलाता है। आलम्बन की चेष्टा तथा देश, काल आदि का उद्दीपन विभाव माना जाता है। रस के अनुसार उद्दीप्त पृथक-पृथक होते हैं।

शारदातनय ने प्रत्येक रस के अनुसार उद्दीपन का वर्गीकरण करते हुए उसके क्रमशरू ललित, ललिताभास, स्थिर, चित, रूक्ष, खर, निन्दित तथा विकत नाम से आठ भेद बताये है। ललित मन को आह्लादित करते हैं और तत्रदिनद्रय से गोचर होते हैं। यह श्रृंगार रस के उत्कर्ष होते हैं। सूचित, इष्ट या स्मृत हासकारक विभाव ललिताभास कहलाते हैं। इसी प्रकार श्रृत, दुष्ट तथा स्मृत विभाव यदि स्थिरता देने वाले हो तो वीर रस के उद्दीपक होते हैं। जिनका अनुभव सदा हृदय में विचित्रता का अनुभव उत्पन्न करता है, वे अदभुत रस के ऐश्वर्य भावक चित्र नामक विभाव कहलाते हैं।

रस-निष्पत्ति में विभाव का महत्वः हमारे मन में रहने वाले स्थायी भावों को जाग्रत करने तथा उद्दीप्त करने का कार्य विभाव द्वारा होता है। जाग्रत तथा उद्दीप्त स्थायी भाव ही रस का रूप प्राप्त करते हैं। इस प्रकार रस-निष्पत्ति में विभाव का अत्यधिक महत्व है।

३. अनुभावः

अर्थः आश्रय की चेष्टाओं अथवा रस की उत्पत्ति को पुष्टि करने वाले वे भाव जो विभाव के बाद उत्पन्न होते हैं, श्अनुभावश् कहलाते हैं। भावों को सूचना देने के कारण ये भावों के अनुश् अर्थात् पश्चातवर्ती माने जाते हैं। अथवा मानव मन में स्थायी भाव के जाग्रत होने पर मनुष्य में कुछ शारीरिक चेष्टाएं उत्पन्न होती है। जिन्हें 'अनुभावश् कहा जाता है। जैसे-साँप को देखकर व्यक्ति चिल्लाने या भागने लगें तो उसकी क्रिया अनुभाव कहलाएगी।

अन्य आचार्यो के मत अनुसार

आचार्य भरत वाणीः तथा अंग संचालनादि द्वारा व्यक्त अभिनय रूप भावाभिव्यंजना को अनुभाव कहते

धनंजयः अनुभावों को विकास रूप तथा भावों को सूचक मानते हैं।

विश्वनाथ नेः अनुभावों को आलम्बन, उद्दीपन आदि कारण से उत्पन्न भावों को बाहर प्रकाशित करने वाले कार्य को अनुभाव बतलाया है।

देव उसी को इस प्रकार कहते हैं:

"जिनको निरखत परस्पर रस को अनुभाव होई।
इन्हीं की अनुभाव पद कहत सयनि लोई।"

कहते हैं अस्तु, वाणी तथा अंग-संचालन आदि की जिन क्रियाओं से आलम्बन तथा उद्दीपन आदि के कारण आश्रय के हृदय में जाग्रत भावों का साक्षात्कार होता है, वह व्यापार 'अनुभाव' कहलाता है।

उदाहरणतः एकान्त स्थल पर प्रियतम् को पाकर मन में रति का अनुभव करते हुए नायिक का उसकी ओर कटाक्षपात करना, संकेत से उसे बुलाना रोमांचित हो जाना, सावधानी के लिए इधर-उधर देखना आदि उसके व्यापार अनुभाव कहलायेंगे। हेमचन्द्र, भानुदत्त तथा शारदातनय ने अनुभव को हेतु रूप् और कविराज विश्वनाथ, धनजंय, शिगभूपाल तथा पण्डितराज ने इन्हें कार्य रूप माना है। प्रत्येक रस के विचार से यह अनुभावी भी प्रथक-प्रथक होते हैं।

अनुभाव के भेदः अनुभाव मुख्य रूप से पाँच प्रकार के होते हैं:

१. कायिक

२. मानसिक

३. वाचिक

४. आहार्य

५. साविक अनुभव

- **कायिक अनुभवः प्रायरू शरीर की कृत्रिम चेष्टा को अथवा भाव की परिसूचक शारीरिक चेष्टाओं को कायिक अनुभाव कहा जाता है। जैसे-रति भाव के अन्तर्गत कटाक्ष, चुम्बन, आलिंगन आदि शारीरिक चेष्टाएं कायिक अनुभाव है।**
- **मानसिक अनुभावः** प्रायः "मन सम्भव मोदादि कहँ" इसके अन्तर्गत माना गया है। हृदय की भावना के अनुकूल मन में हर्ष विषाद, आनन्द अथवा मस्तिष्क में तनाव आदि उत्पन्न होने को मानसिक 'अनुभाव' कहते हैं।

  पन्त की इन पंक्तियों में इसका निर्वाह है:

  नाथ, कह अतिशय मधुरता से दबे,

  सरस स्वर में, सुमुखी थी सकुचा गयी।

  उस अनूठे सूत्र में ही हृदय के भाव सारे भर दिये, ताबीज से (ज्योत्सना)
- **वाचिक अनुभावः** वाचिक का अर्थ है वाणी से किया हुआ। जिस कथोपकथन या स्वागत संलाप आदि शब्दों के माध्यम से भाव का ज्ञान होता है, वह वाचिक अनुभाव कहलाता है।
- **आहार्य अनुभावः** मन के भावों के अनुसार अलग-अलग प्रकार की कृत्रिम वेश-रचना करने को श्आहार्यश् अनुभाव कहते हैं। अथवा जब आरोपित की गई या स्वेच्छा से की गई वेश रचना द्वारा भाव की सूचना मिलती है तब उसे आहार्य अनुभाव कहते हैं। प्रवास से प्रियतम के लौटने पर प्रेमिका का श्रृंगार करना आहार्य अनुभाव है।
- **सात्विक अनुभावः** हेमचन्द्र के अनुसार - 'सत्व' का अर्थ है प्राण। स्थायी भाव ही प्राण तक पहुँचकर सात्विक अनुभाव का रूप धारण कर लेते हैं।

अन्य शब्दों में - अन्तरूकरण के विशेष धर्म 'सत्व' से उत्पन्न ऐसे शारीरिक या अंग-विकार को 'सात्विक' अनुभाव कहते हैं। जिससे हृदय में उत्पन्न रस या भाव का पता चलता है। इस प्रकार के शारीरिक विकारों पर आश्रय को कोई नियन्त्रण नहीं होता। ये मनुष्य में स्थायी भाव उद्दीपन होते ही स्वतरू उत्पन्न हो जाते हैं। इस प्रकार सात्विक का अर्थ है-"सत्वगुण से उत्पन्न" उपर्युक्त तीनों प्रकार के आश्रय (जिसके हृदय में भाव उत्पन्न होता है) का नियन्त्रण रहता है, पर सात्विक अनुभावों पर उसका कोई वश नहीं होता। सात्विक अनुभाव आठ माने गये है:

(१) स्तम्भः रति, शोक, भय और विस्मय आदि भावों के कारण निष्क्रिय हो जाना।

(२) स्वेदः हँसी, शोक, भय आदि भावों के कारण पसीना आ जाना।

(३) रोमांचः प्रेम, आनन्द, भय और विस्मय आदि भावों के कारण शरीर के रोंगटे खड़े हो जाना या शरीर में पुलक छा जाने को रोमांच कहते हैं।

(४) वेपथुः प्रेम, उत्साह, क्रोध और भय आदि भावों के कारण शरीर का कम्पायमान होना वेपथु कहा जाता है।

टिप्पणी

(५) स्वरभंग: प्रेम, हँसी, शोक, भय और विस्मयादि भावों के आवेग के कारण कण्ठ का गद्‌गद हो जाना और स्वाभाविक रीति से शब्दों का न निकलना स्वरभंग कहा जाता है।

(६) वैवर्ण्य: क्रोध, प्रेम, भय आदि के कारण मुख के रंग बदलने को वैवर्ण्य कहते हैं।

(७) अश्रु: जहाँ नेत्रों में जल भर आने के माध्यम से प्रेम, हँसी, शोक, भय आदि भावों की सूचना मिल, वहाँ अश्रु सात्विक अनुभाव होता है।

(८) प्रलय: किसी भी भाव के अत्याधिक आवेग के कारण शरीर के चेतना शून्य हो जाने को प्रलय कहा जाता है।

रस निष्पत्ति में अनुभावों का महत्व: स्थायी भाव जाग्रत और उद्दीप्त होकर रस दशा को प्राप्त होते हैं। अनुभावों के द्वारा इस बात का ज्ञान होता है कि आश्रय के हृदय में रस की निष्पत्ति हो रही है अन्यथा नहीं। इसके साथ ही अनुभावों का चित्रण काव्य को उत्कृटता प्रदान करता हैं।

1.12 संचारी अथवा व्याभिचारी भाव

अर्थ: भरत के श्नाटयशास्त्रश् में इसकी व्याख्या करते हुए कहा गया है कि इस शब्द में श्सश् उपसर्ग है तथा चर धातु है। अतरू अर्थ हुआ रस के सम्बन्ध में जो अन्य वस्तुओं की ओर संचरण करे। इसी प्रकार आश्रय के मन में उत्पन्न होने वाले अस्थिर मनोविकारों को श्संचारी भावश् कहते हैं ये मनोविकार पानी के बुलबुलों की भाँति बनते और मिटते रहते हैं जबकि स्थायी भाव अन्त तक बने रहते हैं।

अन्य शब्दों में जो भाव स्थायी भाव को अधिक पुष्ट करते हैं, उन सहयोगी भावों को 'संचारी भाव' कहा जाता है।

भरतमुनि ने संचारी भावों का स्पीष्टीकण करते हुए कहा है कि ये वे भाव है, जो रसों में अनेक प्रकार से विचरण करते हैं तथा रसों को पुष्ट का आस्वादन के योग्य बनाते हैं जिस प्रकार समुद्र में लहरें उत्पन्न होती है और उसी में विलीन हो जाती है। उसी प्रकार स्थायी भाव में संचारी भाव उत्पन्न और विलीन होते रहते हैं। **इसी आधार पर धनंजय** ने व्यभिचारी भावों की परिभाषा की है

"विशेषादभिमुख्येन चरन्तो व्यभिचारिणः।
स्थायिन्तुन्मग्ननिर्मग्नारू कल्लीला इव वारिधो।"

अर्थात जो भाव विशेष रूप से स्थायी भाव की पुष्टि के लिए तत्पर या अभिमुख रहते हैं और स्थायी भाव के अन्तर्गत आविर्भूत और तिरोहित होते दिखाई देते हैंय संचारी भाव कहलाते हैं।

जैसे-लहरें समुद्र में पैदा होती है और उसी में विलीन हो जाती है, वैसे ही रत्यादि स्थायी भावों में निर्वेदादि संचारी भाव उन्मग्न तथा निमग्न होते रहते हैं। इस तरह संचारी भाव मुख्य रूप से स्थायी भाव में ही उठते-गिरते हैं। लहरों के उठने और गिरने से समुद्र का समुद्रत्व और भी पुष्ट हो जाता है ठीक उसी तरह संचारी भाव स्थायी भावों के पोषक होते हैं। स्थायी भाव स्थिर है तो संचारी संचरणशील और अस्थिर।

1. **संचारी भाव के भेद:**

   आचार्यों ने संचार भावों की संख्या निश्चित कर दी। भरत ने जिन ३३ संचारियों का उल्लेख किया है, वे प्रायरू सर्वमान्य हो गये है। उनके नाम है:

टिप्पणी

संचारी भाव के भद-

१. निर्वेद	२. आवेद	३. वैन्य	४. श्रम	५. मद	६. जड़ता	७. उग्रता	८. मोह	९. विबोध
१०. स्वप्न	११. अपस्मार	१२. गर्व	१३. मरण	१४. आलस्य	१५. अमर्ष	१६. निद्रा	१७. अवहित्ता	१८. उत्सुकता
२०. शंका	२१. स्मृति	२२. उन्माद	२२. मति	२३. व्याधि	२४. हर्ष	२५. घृत	२६. चिन्ता	२७. लज्जा
२८. सन्त्रास	२९. असूया	३०. विषाद	३१. ग्लानि	३२. चपलता	३३. वितर्क।			

रस-निष्पत्ति में संचारी भावों का महत्व**:** संचारी भाव स्थायी भाव को पुष्टि करते हैं। वे स्थायी भावों को इस योग्य बनाते हैं कि उनका आस्वादन किया जा सके। यद्यपि वे स्थायी भाव को पुष्ट कर स्वयं समाप्त हो जाते हैं, तथापि ये स्थायी भाव को गति एवं व्यापकता प्रदान करते हैं।

2. रसों का सामान्य परिचय

शास्त्रों के आचार्यों ने तैतीस संचारी भाव माने है और नौ स्थायी भाव। ये स्थायी भाव ही विभाव अनुभाव और संचारियों के संयोग रस में परिणित होते हैं। स्थायी भाव और उनसे निष्पन्न रस निम्नलिखित

१. रति - इससे श्रृंगार, भक्ति और वात्सलय है।

२. उत्साह से - वीर रस।

३. निर्वेद (वैराग्य) दृ शांत रस।

४. शोक से - करूण रस।

५. क्रोध से - रौद्र रस।

६. भय से - भयानक रस।

७. जुगुप्सा (घृणा) - वीत्सि रस।

८. विस्मय से - अद्भुत रस।

९. हास से - हास्य रस।

इस प्रकार रसों की संख्या ग्यारह है:

(१) श्रृंगार (२) भक्ति (३) वात्सल्य (४) वीर रस (५) शांत रस (६) करूण रस (७) रौद्र रस (८) भयानक रस (९) वीभत्स रस (१०.) अद्भुद रस (११) हास्य रस।

श्रृंगार रस

अर्थ: शब्दार्थ की दृष्टि से श्रृंगार 'कामोद्रेक' अथवा कामवृद्धि की प्राप्ति का द्योतक है। श्रृंगार में दो शब्द मिले है-श्रृंग तथा आर। श्रृंग का अर्थ है, कामोद्रेक अथवा काम की वृद्धि। आर-द्रत्यर्थ 'ऋ' धात से बना है जिसका अर्थ यहां है- प्राप्ति। अतएवं श्रृंगार का अर्थ हुआ कामवृद्धि की प्राप्ति। अतएवं जो रचना मानव हृदय की मधुरतम, भूख, काम को उज्जीवित एवं परितृप्त करेगी वह श्रृंगार रस की रचना कही जाएगी।

टिप्पणी

परिभाषाः नायक और नायिका के मन में संस्कार रूप में स्थित रति या प्रेम जब रस की अवस्था को पहुँचकर आस्वादन के योग्य हो जाता है तो वह 'श्रृंगार रस' कहलाता है।

साहित्य दर्पण में विश्वनाथ ने श्रृंगार की परिभाषा दी है:

"श्रृंग हि मन्मथो दस्तदागमनहेतुकः ।
डतमप्रकृतिप्रायो रसरू श्रृंगार इध्यते।"

अर्थात् काम के अंकुरित होने को श्रृंग कहते हैं। उसकी उत्पत्ति का कारण अधिकांश उतम प्रकृति से युक्त रस श्रृंगार कहलाता है।

उदाहरणः

"लखि ससंक सूनौ सदन मन्दहास गति मंद।
चन्द्रमुखी कौ अंक भरि, लूटयौ सुख ब्रजचंद।।

अवयवः श्रृंगार रस के अवयव इस प्रकार है:

1. **स्थायी भाव** - रति
2. **आलम्बन विभाव** - नायक और नायिका
3. **उद्दीपन विभाव** - आलम्बन का सौन्दर्य, प्रकृति रमणीक उपवन, बसन्त ऋतु चाँदनी भ्रमर-गुंजन, पंक्षियों का कुंजन आदि।
4. **अनुभाव** - अवलोकन, स्पर्श, आलिंगन, कटाक्ष, अश्रु आदि।
5. **संचारी भाव** - हर्ष, जड़ता, निर्वेद, अभिलाषा, चपलता, आशा, स्मृति, आवेग, उन्माद, आदि।

श्रंगार के भेदः श्रंगार के दो भेद है

(1) संयोग श्रंगार (2) वियोग या विप्रलम्भ श्रंगार।

इनका विवेचन निम्नलिखित है:

(1) संयोग श्रंगारः नायक और नायिका के परस्पर मिलन, दर्शन और आंलिग्न आदि से संयोग श्रंगार की त्यंजना होती है। यहाँ संयोग का अर्थ है-सुख की प्राप्ति करना।

उदाहरण -

लता ओट तर सखिन्ह लखाए। स्यामल गौर किशोर सुहाय।
देखि रूप लोचन ललचाने। हरर्ष जनु निज निधि पहिचाने।
थके नयन रघुपति हवि देखें। पलकहिहूँ परिहरी निमेषें।।
अधिक स्नेह देह यै भोरी। सरद सौसहि जनु चित्व चकोरी।

स्पष्टीकरण-

स्थायी भावः रति या प्रेम

विभावः (क) आलम्बन-राम (ख) आश्रय-सीता (ग) उद्दीपन, कुंज लता

अनुभावः लोचन ललचाना, आराम के रूप के अपलक देखना।

संचारी भावः हर्ष, अभिलाषा अतरू इस पद में संयोग श्रृंगार रस है।

टिप्पणी

(2) वियोग (विप्रलंभ) श्रंगारः एक दूसरे के प्रेम में अनुरक्त नायक और नायिका के मिलन के अभाव को वियोग अंगार कहते हैं।

भोजराज के अनुसारः जहाँ रति नामक भाव प्रकर्ष को प्राप्त करें, लेकिन अभीष्ट न पा सके, वहां विप्रलम्भ श्रृंगार कहा जाता है।

उदाहरण

हा जग एक वीर रघुराया। केहि अपराध विसारेहु दाया।।
आरति हरन सरन सुखदायक। हा रघुकुल सरोज दिननायक।।
हा लाछिमन तुम्हारा नहि दोसा। सो फल पाऊ कीन्हेऊं रोसा।।
विविध विलाप करति वैदेही। भूरि कृपा प्रभु दूरि सनेही।।

स्पष्टीकरणः

स्थायी भावः प्रेम

विभावः (क) आलम्बन-सीता (ख) आश्रय-सीता (ग) उद्दीपन-एकाकीपन

अनुभावः विलाप करना

संचारी भावः चिन्ता, विषाद आदि।

अतरू यहाँ वियोग श्रृंगार रस है।

भक्ति रस

अर्थः आचार्यों ने प्रारम्भ में भक्ति को रस की संज्ञा दी है लेकिन गौड़ीय सम्प्रदाय के आचार्य रूपगोस्वामी कृत श्हरिभक्तश् रसामृत सिंधु में काव्यशास्त्रीय दृष्टि से भक्ति रस की सुनिश्चित व्याख्या है

परिभाषा - भाक्ति रस के विषय के आचार्यो में बड़ा मतभेद हैं। प्राचीन आचार्य इसे देव-विषयक रति मानकर श्रृंगार रस का ही एक भेद मानते रहे हैं जहाँ पर परमात्मा-विषयक प्रेम विभाव आदि से परिपुष्टि हो जाता है, वहाँ पर भक्ति रस की उत्पत्ति होती है।

सूर काव्य चेतना नामक ग्रन्थ में डां. शंकरदेव अवतरे ने भक्ति रस की परिभाषा इस प्रकार दी हैरू "सामाजिक हृदय का संस्कारावस्थित परारति नामक स्थायी भाव, किसी पूजा आलम्बन विभाव से उदबुद्ध उसके प्रशासकीय कर्म तथा अन्य परिवेश रूप उद्दीपन विभाव से उद्दीप्त, परारति का प्रदर्शक करने वाले भक्त रूप आदाय नामक काव्यपात्र के रोमांच आदि अनुभवों के द्वारा व्यंजित हर्षादि संचारी भावों के माध्यम से पुष्ट, काव्य में आश्रय के भीतर उसी प्रकार प्रतीत परारति के अभेद साधारण्य से व्यक्त होकर सामान्य भक्तिरस कहलाता है।

अवयवः

(1) स्थायी भावः भगवान विषयक रति

(2) आलम्बन विभावः परमेश्वर, राम, श्रीकृष्णा आदि

(3) उद्दीपन विभावः परमात्मा के अद्‌भुत कार्य कलाप, सत्संग, भक्तों का समागम आदि।

(4) अनुभावः भगवान के नाम तथा लीला का कीर्तन, आँखों से आँसुओं का गिरना, गद्‌गद हो जाना, कभी रोना, कभी नाचना आदि।

(5) संचारी भावः निर्वेद मति, हर्ष वितक आदि।

उदाहरणः

प्रभु मौरे औगुन चित न धरौ।
समदरसी प्रभु नाम तिहारो चाहे तो पार करो।
इक लोहा पूजा में राखत, इक घर बधिक परो।
यह दुविधा पारस नहि जानत कंचन करत खरो।।

स्पष्टीकरणः

यहाँ भगवान कृष्ण परारति के आलम्बन विभाव है। भगवान की समदर्शिता आदि आलम्बनगत उद्दीपन विभाव है। अतः स्तुत विश्व परिवेष प्रकृतिगत उद्दीपन है। भक्त सूर स्वयं ही आश्रय नामक काव्यपात्र है जिनके अनुयय विनय रूप अनुभावों से स्पंजित दैव्यादि संचारी भावों के माध्यम से पुष्ट भक्त सहृदयों के हृदय का संस्कार स्वस्थित परारति नामक स्थायी भाव काव्य में सूर नामक आश्रय से उसी प्रकार प्रतीत परारति के अभेद साधाराण्य से व्यक्ति होकर सामान्य या दास्य भक्ति रस का उदाहरण बना हुआ है।

वात्सल्य रस

अर्थः वात्सल्य शब्द से व्युत्पन्न और पुत्रादि विषयक रति का पर्याय है। उसका प्रयोग रस की अपेक्षा भाव के लिए अधिक उपयुक्त है कदाचित इसीएिल प्राचीन आचार्यो ने श्वात्सल्स रसश् न लिखकर 'सत्सलरसश् लिखा और वत्सलता या वात्सल्य को उसका स्थायी भाव माना । यथा –

भोजराज के अनुसारः

"श्रृंगारवीरकरूणादिभुतसैद्रहास्यबीभत्सवत्सलभयानकशान्त नाम्नः।

विश्वनाथ के अनुसार

स्फुटं चमत्कारियता वत्सलं च रसं विदुः।
स्थायी-सत्सलतास्नेहः पुत्राद्यालम्बन् मतम।"

अर्थात् प्रकट चमत्कार होने के कारण वत्सल को भी रस माना जाता है।।

परिभाषाः पुत्र, बालक, शिष्य, अनुज के प्रति रति का भाव स्नेह कहलाता है। यहीं भाव परिपुष्ट होकर श्वात्सल्य रसश् की व्यंजना करता है।

डा. शंकरदेव अवतरे – ने वात्सल्य रस की परिभाषा इस प्रकार दी है: "सामाजिक के हृदय का लाल्या परारति नामक स्थायी भाव भगवान के बालरूप आलंबन विभाव से उबुद्ध है। बालसुलभ मनोरम चेष्टा तथा अन्य परिवेश रूप उद्दीपन विभाव क्रमशरू आलंबनगत और आलंबन बहिर्भूत उद्दीपन विभाव से उद्दीप्त और लाल्या परारति का प्रदर्शन करने वाले भक्त माता पिता आदि आश्रय नाम काव्यपात्र के रोमांचादि अनुभावों (सात्विक भाव विशिष्ट अनुभाव) के द्वारा व्यंजित औत्सुक्यादि संचारी भावों के माध्यम से पुष्ट होकर, काव्य में या आश्रय में उसी प्रकार प्रतीत लाल्या परारति स्थायी भाव के अभेद साधारण से व्यक्त होकर वात्सल्य रस कहलाता है।

अवयवः

(१) स्थायी भावः स्नेह (वत्सलता)

(२) आलम्बन विभावः पुत्र, शिशु एवं शिष्य

टिप्पणी

(३) उद्दीपन विभाव : बालक की चेष्टाएं, तुतलाना, हठ करना आदि तथा उसका रूप एव उसकी वस्तुएँ।

(४) अनुभाव : स्नेह से बालक को गोद में लेना, आलिंग्न करना, सिर पर हाथ फेरना, थपथपाना आदि।

(५) संचारी भाव : हर्ष, गर्व, मोह, चिन्ता, आवेग, शंका आदि।

उदाहरणः

तन की दुति स्याम सरोरूह लोचन कंज की मंजुलताई हरै।
अति सुन्दर सोहत धूरि मरे, छवि भूरि अनंग की धूरि धरै।
दमकै दतियाँ दुति दामिनि ज्यौं किलकै कल बाल बिनोद करै।
अवधेस बालक चारि सदा तुलसी मन-मन्दिर में बिहरै।

-तुलसीदास

स्पष्टीकरण - यहाँ 'स्नेह' (वत्सलता) स्थायी भाव है। राम और उनके भाई आलम्बन है। उनके धूल धूसरित शरीर, बाल-क्रीडाएँ, छोटे-छोटे दाँतो को चमकना आदि उद्दीपन है। उनके बाल विनोद से माता पिता का आनन्दित होना अनुभाव है। हर्ष और गर्व संचारी भाव है। इस प्रकार यहाँ वात्सल्य रस की पूर्ण निष्पत्ति हुई है।

4. वीर रस -

अर्थः युद्ध अथवा किसी कठिन कार्य को करने के लिए हृदय में जो उत्साह जाग्रत होता है, उससे वीर रस की निष्पत्ति होती है। वीर रस का वर्ण स्वर्ण अथवा गौर तथा देवता इन्द्र कहे गये है। यह उतम प्रकृति वाले से सम्बद्ध है।

"अथ वीरो नाम उतमप्रकृति रूत्साहात्मकः।"

भानुदत के अनुसारः पूर्णतया परिस्फुट उत्साह अथवा सम्पूर्ण इन्द्रियों का प्रहर्ष या उत्फुल्लता वीर रस है -

"परिपूर्ण उत्साह सर्वेन्द्रियाणां प्रहषों वा वीरः।

परिभाषाः आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने उत्साह की व्याख्या करते हुए लिखा है-

"जिन कर्मों में किसी प्रकार का कष्ट या हानि सहने का साहस अपेक्षित होता है उन सबके प्रति उत्कण्ठापूर्ण आनन्द, उत्साह के अन्तर्गत लिया जाता है। यह उत्साह दान, धर्म, दया, युद्ध आदि किसी भी क्षेत्र में हो सकता है।"

हिन्दी के आचार्य सोमनाथ ने वीर रस की परिभाषा की है-

"जब कवित में सुनत ही व्यंग्य होय उत्साह।
तहां वीर रस समझियों चौबिधि के कबिनाह।।

इस आधार पर वीर रस चार प्रकार होते हैं-

१. युद्धवीर २. दानवीर ३. धर्मवीर ४. दयावीर।

अवयवः वीर रस के अवयव इस प्रकार है

(१) स्थायी भाव : उत्साह

(२) आलम्बन विभावः अत्याचारी शत्रु

टिप्पणी

(३) उद्दीपन विभाव : शत्रु का पराक्रम, अहंकार, रणवाद्य, याचक का अतिनाद, यश की इच्छा आदि।

(४) अनुभावः रोमांच, गर्वपूर्ण उक्ति, प्रहार करना, कम्प, धर्मानुकूल आचरण आदि।

(५) संचारी भाव : उग्रता, आवेग, गर्व चपलता, धृति, मति, स्मृति, हर्ष, उत्सुकता, असूया आदि।

उदाहरण

सुनहु भानुकूल पंकज भानू। कहउं सुभाव न कुछ अभिमानू।।
जो राउर अनुशासन पाउं। कन्दुक इव बह्मांड उठाऊं।।
कांचे घट जिमि डारो फोरी। सको मेरू मूलक एव तोरी।।
तव प्रताप महिमा भगवाना। का बापुरो पिनाक पुराना।।
ताराँ छत्रक दण्ड जिमि तव प्रताप बल नाथ।।
जो न कराँ प्रभुपद शपथ, पुनि न धरौ धनु हाथ।।

स्पष्टीकरणः

उदाहरणतः में धनुष आलंबन विभाव एवं जनक की 'अनुचित वाणी' ही उद्दीपन विभाव है। लक्ष्मण की आवेशपूर्ण उक्तियां अनुभाव है। आवेश औत्सुक्त एवं गर्वादि यहां संचारी भाव है। इन्हीं समस्त उपकरणों से सुसज्जित होकर उत्साह स्थायी यहां वीर रस में परिणत होता दीख पड़ता है।

5. शान्त रस

परिभाषाः तत्व ज्ञान की प्राप्ति अथवा संसार से वैराग्य होने पर शान्त रस की उत्पत्ति होती है। जहाँ न दु:ख है न सुख, न द्वेष है न राग और न कोई इच्छा है, ऐसी मनरू स्थिति में उत्पन्न रस को मुनियों ने शान्त रस कहा है।

अवयवः शान्त रस के अवयव इस प्रकार है

(१) स्थायी भावः निर्वेद

(२) आलम्बन विभावः परमात्मा का चिन्तन एवं संसार की क्षणभंगुरता।

(३) उद्दीपन विभावः सत्संग तीर्थस्थलों की यात्रा, शास्त्रों का अनुशीलन आदि।

(४) अनुभाव : पूरे शरीर में रोमांच, पुलक अश्रु आदि।

(५) संचारी भाव : धृति, हर्ष स्मृति, मति, विबेद्य, निर्वेद आदि।

उदाहरणः

"कबहुकै हौ यहि रहनि रहोगे।
श्री रघुनाथ-कृपा ल-कृपा ते सन्त सुभाव गहौंगो।
जथालाभ सन्तोष सदा काहू सों कछु न चहौगो।
परहित-निरत-निरंतर मन क्रम बचन नेम निबहौगो।।

-तुलसीदास

स्पष्टीकरणः इस पद में तुलसीदास ने श्री रघुनाथ की कृपा से सन्त-स्वभाव ग्रहण करने की कामना की है। श्संसार से पूर्ण विरोक्त और निर्वेदश् स्थायी भाव है। 'राम की भक्तिश् आलम्बन

है। साधु-सम्पर्क एवं श्री रघुनाथ की कृपा उद्दीपन है। धैर्य, सन्तोष तथा अचिन्ता अनुभाव है। निर्वेद, हर्ष, स्मृति आदि संचारी भाव है। इस प्रकार यहाँ शान्त रस का पूर्ण परिपाक हुआ है।

6. करूण रस

अर्थः 'इष्ट की हानि अथवा चिरवियोग आदि से जहाँ शोक का विस्तार हो वहां करूण रस होता है। अथवा-बन्धु-विनाश, बन्धु-वियोग, द्रव्यनाश और प्रेमी के सदैव के लिए बिछडे जाने से करूण रस उत्पन्न होता है। यद्यपि दु:ख का अनुभव वियोग श्रृंगार में भी होता है, तथापि वहां मिलने की आशा भी बँधी रहती है। अतएवं जहाँ पर मिलने की आशा पूरी तरह समाप्त हो जाती है, वहां "करूण रस" होता है।

परिभाषाः किसी भी प्रिय वस्तु, व्यक्ति आदि के अनिष्ट की आशंका अथवा इनके विनाश से उत्पन्न क्षोभ अथवा दु:ख की संवेगात्मक स्थिति को "करूण रस" कहा जाता है। विभाव, अनुभाव और संचारी भाव के संयोग से पूर्णतया प्राप्त होने पर शोक नामक स्थायी भाव से करूण रस की निष्पत्ति होती हैं।

अवयवः करूण रस के अवयव निम्न है

(१) स्थायी भावः शोक

(२) आलम्बन विभावः विनष्ट व्यक्ति अथवा वस्तु।

(३) उद्दीपन विभावः आलम्बन का दाहकर्म इष्ट के गुण तथा उससे सम्बन्धित वस्तुएं, इष्ट के चित्र का दर्शन।

(४) अनुभावः भूमि पर गिरना, निरूश्वास, छाती पीटना, रूदन, प्रलाप, देव-निन्दा, कम्प आदि।

(५) संचारी भावः निर्वेद, माहे, अपस्मार, व्याधि, ग्लानि, श्रम, विषाद, जड़ता, दैव्य, उम्माद आदि।

उदाहरणः

अभी तो मुकुट बँधा था माथ,
हुए कल ही हल्दी के हाथ,
खुले भी न थे लाज के बोल,
खिले थे चुम्बन शून्य कपोल,
हाय रूक गया यही संसार,
बना सिंदूर अनल अंगार,
वातहत लतिका वह सुकुमार,
पड़ी है छिन्नधार॥

-सुमित्रानन्दन पन्त

स्पष्टीकरण

(१) स्थायी भावः शोक

(२) विभावः (क) आलम्बन-विनष्ट पति

(ख) उद्दीपन-मुकुट का बँधना, हल्दी के हाथ होना, लाज के बोल न खुलना।

(३) अनुभावः वायु से आहत लतिका के समान नायिका का बेसहारा पड़े होना।

टिप्पणी

(४) संचारी भाव: विषाद, दैन्य, स्मृति, जड़ता आदि।

इस प्रकार करूणा के सम्पूर्ण उपकरण और श्शोकश् नामक स्थायी भाव इस पद्य को करूण रस–दशा तक पहँचा रहे है।

7. रौद्र रस

परिभाषा: "जहाँ विरोध के प्रति प्रतिशोक एवं क्रोध भाव जाग्रत हो, वहां रौद्र रस होता है।"

अन्य शब्दों में: जहाँ विपक्ष द्वारा किए गए अपमान अथवा अपने गुरूजन आदि की निन्दा आदि से क्रोध उत्पन्न होता है, वहाँ "रौद्र रस" होता है।

अवयव: इसकें विभिन्न अवयवों का उल्लेख निम्नलिखित रूप में किया जा सकता है:

(१) स्थायी भाव: क्रोध

(२) आलम्बन विभावरू विपक्षी अनुचित बात कहने वाला व्यक्ति

(३) उद्दीपन विभाव: विपक्षियों का कार्य तथा उक्तियाँ

(४) अनुभाव: मुख लाल होना, दाँत पीसना, आत्म–प्रशंसा, शस्त्र चलाना, भौहें चढ़ाना, कम्प, प्रस्वेद, गर्जन आदि।

(५) संचारी भाव: आवेग, अमर्ष, उग्रता, उद्वेग, स्मृति, असूया, मद, मोह आदि।

उदाहरण:

छत्र जाति रघुकुल जनम, राम अनुग जगु जान।
लातहु भारे चढ़त सिर, नीच को धूरि समान॥
"बांधि जटा सिर कसि कटि माथा। साजि सरासुन सायकु हाथा।
आजु राम सेवक जपु लेऊ। भरतहिंसमर सिखावन देऊ॥"

स्पष्टीकरण:

प्रस्तुत अवतरण में लक्ष्मण आश्रय है, भरत आलम्बन है तथा उनके ससैन्यागमन ही एक प्रकार से उद्दीपन विभाव का पूरक है। लक्ष्मण के क्रोधयुक्त पुरूष वचन, परिकरबद्ध होकर हाथ में उनका धनुवाणि धारण करना तथा युद्ध सम्बन्धी, उनकी ललकार ही, अनुभाव है। अमर्ष उग्रता एवं गर्व आदि यहाँ संचारी भाव है। क्रोध का स्थायी भाव यहाँ समसूची अभिव्यक्ति में परिव्याप्त दिखाई देता है और उसकी पूर्ण परिपुष्टि से ही यहां रौद्र रस का आस्वादन भी सम्भव हो पाया है। "प्रकट करौं रिस पाछिल आनू" के द्वारा यहाँ आश्रय की प्रतिक्रियात्मक मनोवृति का भी स्पष्ट पता चलता है, जो रौद्र रस की अपने विशेषता हैं।

8. भयानक रस

परिभाषा एवं अर्थ – किसी भयानक अथवा अनिष्टकारी वस्तु या व्यक्ति को देखने, उससे सम्बन्धित वर्णन सुनने, स्मरण करने आदि से चित में जो व्याकुलता उत्पन्न होती है उसे 'भयश् कहते हैं। इस भय के जाग्रत और उद्दीपन होने पर जिस रस की निष्पत्ति होती है, उसे श्भयानक रसश् कहते हैं।

अथवा जहाँ भय स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव एवं संचारियों के संयोग से पुष्ट एवं विकसित होता है, वहाँ भयानक रस निष्पन्न होता है।

अवयवः इसके विभिन्न अवयव निम्नलिखित प्रकार से हैः

(१) स्थायी भावः भय

(२) आलम्बन विभावः बाघ, चोर, सर्प, शून्य स्थान, भयंकर वस्तु का दर्शन आदि

(३) उद्दीपन विभावः भयानक वस्तु का स्वर, भयंकर स्वर आदि का डरावनापन एवं भयंकर चेष्टाएँ।

(४) अनुभाव : कम्पन, पसीना छूटना, मुँह सूखना, चिन्ता होना, रोमांच, मच्छी, पलायन, रूदन आदि।

(५) संचारी भाव : दैन्य, सम्भ्रम, चिन्ता, सम्मोह, त्रास आदि।

स्पष्टीकरणः

उपर्युक्त उदाहरण में भयानक रस की पूर्ण सामग्री विद्यमान है। अतरू यहां भयानक रस है।

उदाहरण -

जब कीन्ह तेहि पाखण्ड। भए प्रगट जंतु प्रचण्ड।।

बैताल भूत पिसाच। कर धरे धनु नाशच।।

जोगिन गहे करबाल। एक हाथ मनुज कपाल।।

करि सद्य सोनित पान। नाचहिं करहिं बहुगान।

9. बीभत्स रस

अर्थः घृणित वस्तुओं को देखकर अथवा उनके सम्बन्ध में सुनकर उत्पन्न होने वाली घृण या ग्लानि "बीभत्स रस" की पुष्टि करती है। तात्पर्य यह है कि बीभत्स रस के लिए घृणा और जुगुप्सा आवश्यक है।

परिभाषाः जहाँ घृण्य वस्तुओं के श्रवण-दर्शन से हृदय में आकुंचन होता है, वहाँ "जुगुत्साश् के हृदयगत विकास एवं विस्तार से बीभत्स रस की निष्पत्ति होती है।

अवयवः शास्त्र में इसके विभिन्न अवयवों का विधान निम्नलिखित रूप में हुआ हैरू

(१) स्थायी भावः जुगुप्सा

(२) आलम्बन विभावः दुर्गन्धिमय मांस, रक्त अस्थि आदि।

(३) उद्दीपन विभावः रक्त, माँस का सड़ना, उसमें कीड़े पड़ना, दुर्गन्ध आना, पशुओं का इन्हें नोचना-खसोटना आदि।

(४) अनुभावः नाक का टेढ़ा करना, मुहँ बनाना, थूकना, आँखे मीचना, घृणा आदि।

(५) संचारी भावः ग्लानि, आवेग, शंका, मोह, व्याधि, चिन्ता, वैवर्ण्य जड़ता आदि।

रामचरितमानस से उदाहरण दृष्टव्य हैः

नाना भांति पिचास पिचासी।
मारू काटु धुनि बोलहि नाची।
विष्टा पूष रूधिर कच हाड़ा।
बरसाहिं कबाहुँ उपल बहु छाड़ा।

वरषि धूरि कीन्हेसि अंधियारा।
सूझ न आपन हाथ पसारा।।
कपि अकुलाने नया देखे।
सब कर मरन बना यहि लेखे।।

स्पष्टीकरणः प्रस्तुत उदाहरण में राक्षसगण आलम्बन रूप में वानर आश्रय रूप में अंकित हुए। रूधिर, कच एवं हाड़ादि की वर्षा यहां उद्दीपन विभाव है। वानरों की आकुलता में हमें यहां त्रास एवं विषाद के संचारियों की भी झलक देखने को मिलती है। घृणा एवं जुगुप्सा का स्थायी तो सम्पूर्ण अभिव्यक्ति में ही परिव्याप्त दीख पड़ता है।

10. अद्‌भुत रस

परिभाषा एवं अर्थः किसी विचित्र वस्तु को देखने या सुनने से जब विस्मय स्थायी भाव का परिपोषण हो तब अद्‌भुत रस की निष्पत्ति होती है।

विचित्र अथवा आश्चर्यजनक वस्तुओं को देखकर हृदय में विस्मय आदि के भाव उत्पन्न होते हैं। इन्हीं भावों के विकसित रूप को "अद्‌भुत रस" कहा जाता है।

अवयवः साहित्य-शास्त्र के आचार्यों ने इसके विभिन्न अवयवों का विधान निम्नलिखित रूप में किया हैरू

(१) स्थायी भावः आश्चर्य

(२) आलम्बन विभाव आश्चर्य उत्पन्न करने वाला पदार्थ या व्यक्ति

(३) उद्दीपन विभावः अलौकिक वस्तुओं का दर्शन, श्रवण कीर्तन आदि।

(४) अनुभावः दाँतों तले अंगुली दबाना, आँखे फाड़कर देखना, रोमांच, आंसू आना, काँपना, गद्‌गद होना आदि।

(५) संचारी भावः उत्सुकता, आवेग, भ्रान्तिद्व घृति, हर्ष, मोह आदि।

उदाहरणः रामचरितमानस की निम्नलिखित काव्य-पंक्तियों में इसका सुन्दर परिपाक हुआ है

"सती दिख कौतुक मग जाता।
आगे राम सहित श्री भ्राता।।
फिर चितवा पाछे प्रभु देखा।
सहित बन्धु सिय सुन्दर देवा।।
जहं चितवाहिं तहं प्रभु आसीना।
सेवहिं सिद्ध मुनिस प्रवीना।।"

स्पष्टीकरणः

यहाँ स्थायी भाव विस्मय, आश्रय सती, आलम्बन राम-सीता-लक्ष्मण, जिनसे सती विस्मित हो रही हैं। उद्दीपन राम-सीता-लक्ष्मण का आगे पीछे होना, जो सती के स्थायी भाव को उद्दीपन कर रहे है, अनुभाव सती का स्तम्भित और रोमांचित होना, संचारी भ्रांति, हर्ष, औत्सुक्य। इस प्रकार विभाव अनुभाव एवं संचारियों के संयोग से अद्‌भुत रस की निष्पत्ति हो रही है।

11. हास्य रस

अर्थ एवं परिभाषाः विलक्षण विषय द्वारा जहाँ हास का विस्तार एवं पोषण हो वहाँ हास्य रस होता

अथवा

वेशभूषा, वाणी, चेष्टा आदि की विकृति को देखकर हृदय में विनोद का जो भाव जागृत होता है हास कहा जाता है। यहीं हास विभाव, अनुभाव तथा संचारी भाव में पुष्ट होकर ष्हास्य रसश्श् में परिणत हो जाता

अवयवः इसके विभिन्न अवयवों का शास्त्र में इस प्रकार विधान किया है दृ

(१) स्थायी भाव : हास

(२) आलम्बन विभाव : विकृत वेशभूषा, आकार एवं चेष्टाएँ

(३) उद्दीपन विभाव : आलम्बन की अनोखी आकृति, बातचीत चेष्टाएँ

(४) अनुभाव : आश्रय की मुस्कान, नेत्रों का मिचमिचाना एवं अट्टाहास।

(५) संचारी भाव : हर्ष, आलस्य, निद्रा, चपलता, कम्पन, उत्सुकता आदि।

उदाहरण -

बिन्ध्यं के बासी उदासी तपो ब्रतधारि महा बिनु नारि दुखारे।
गौतम तीय तरी तुलसी सो कथा सुनि में मुनिबृन्द सुखरे॥
हैहै सिला सब चन्द्रमुखी परसे पद मंजुल कंज तिहारे।
कीन्हीं भली रघुनायक जूरू करूणा करि कानन को पगु धरे॥

-तुलसीदास

स्पष्टीकरणः

इस छन्द में स्थायी भाव 'हास' है। रामचन्द्र जी आलम्बन है, गौतम की स्त्री का उद्धार उद्दीपन है। मुनियों की कथा आदि सुनना अनुभाव है तथा हर्ष, उत्सुकता, चंचलता आदि संचारी भाव है। इसमें हास्य रस का आश्रय पाठक है तथा आलम्बन है विन्ध्य के उदास वासी है।

1.13 रस निष्पत्ति

काव्य अलौकिक आनन्द का प्रदाता हैं। काव्य का यह अलौकिक आनन्द ही रस हैं। इस रस की उपलब्धि उन सभी पाठकों, श्रोताओं एवं दर्शकों को होती है जो सहृदय होते हैं, भावुक होते हैं और काव्यानुशीलन से जिनकी चितवृत्तियाँ परिष्कृत एवं परिमार्जित हो जाती है। काव्य का यह रस आस्वादन योग्य होता है और इसके आस्वादन से हमारा अन्तरूकरण स्वार्थ सम्बन्धों का परित्याग करके लोक सामान्य भाव भूमि पर पहुंच जाता है। उसमें उदारता उत्पन्न होती है और विशालता आ जाती है। काव्य के रस मनोवृत्तियों के परिष्कार में उसी प्रकार सफल देखें जाते हैं, जिस प्रकार वैद्यक रसायन विविध रोगों में रामबाण का सा कार्य किया करती है। इतना ही नहीं काव्य के रस हमारे अन्तरूकरण में विद्यमान रजोगुण एवं तमोगुण को दबाकर हमें सत्व गुण में लीन कर देते हैं और हम काव्यानन्द में निमग्न होकर कुछ क्षणों के लिये अपने समस्त भौतिक द्वन्दों अर्थात् सुख-दुख, शीत उष्ण आदि को भूल जाते हैं। काव्य का यह रस अलौकिक चमत्कार तो उत्पन्न करता है, परन्तु यह रस कैसे उपलब्ध होता है? क्या यह हमें बाहर से प्राप्त होता है या हमारे अन्तरूकरण में ही विद्यमान रहता है और उसी को उबुद्ध कर दिया जाता है? अथवा यह रस काव्य में रहता है और वाणी के द्वारा हमें प्राप्त होता है? ऐसे अत्यन्त प्रश्नों के उत्तर ही रस निष्पत्तिश् के सिद्धान्तों की ओर संकेत करते हैं। विद्वानों ने जिस प्रक्रिया द्वारा यह समझाने का प्रयत्न किया है कि हमें काव्यों से रस की उपलब्धि कैसे होती है उसी प्रक्रिया को रस निष्पत्ति कहते हैं।

टिप्पणी

1.14 भरत मुनि का रस सुत्र विवेचन

साहित्य शास्त्रों का अनुशीलन करने पर ज्ञात होता है कि सर्वप्रथम भरतमुनि ने अपने **"नाट्यास्त्र"** में इस प्रक्रिया को समझाने का प्रयत्न करते हुए इसकी व्याख्या की है। इस प्रकार

"स्सानुभूति के अनुभूत होकर सम्पन्न होने की प्रक्रिया रसनिष्पत्ति है।"

रसास्वादन की प्रक्रिया और स्थिति को लेकर भरतमुनि सहित, भट्टलोल्लट, भट्टशंकुक, भट्टनायक और अभिनवगुप्त" प्रभृति आचार्यों ने महत्वपूर्ण विमर्श देते हुए इस सिद्धान्त को परिपूर्णतया तक पहुँचाया। "रसनिष्पत्ति का प्रस्थान बिन्दु है:

भरत का प्रसिद्ध सूत्र

"विभावानुभाव व्यभिचारी संयोगाद्रसनिष्पत्तिः।"

अर्थात् विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। भरतमुनि के सूत्र की विविध व्याख्याएँ हुई है। जिनमे से विद्वानों की राय में ग्यारह व्याख्याएँ मुख्य है, परन्तु साहित्य शास्त्रों में केवल चार व्याख्याओं को ही अधिक मान्यता प्रदान की गई है। इन व्याख्याओं ने भरत मुनि के इस सूत्र में आए हुए 'संयोग' और 'निष्पत्ति' शब्दों को अपने-अपने ढंग से व्याख्याएँ की है। विशेषतः इसमें निहित 'संयोगात' और 'निष्पत्ति' शब्द ही विचारमंथन के प्रेरक रहे है। स्वयं भरत से अभिनव गुप्ताचार्य तक इन दोनों शब्दों की व्याख्या न रस विवेचन को प्रभूत समृद्धि प्रदान की है

(१) भरतमुनि के अनुसार संयोग का अर्थ है - सह संयोजन अर्थात् विभावाद की सुव्यवस्थित संयोजना। वे व्यंजनों, औषधियों का उदाहरण देते हुए कहते हैं कि विविध विभावादि भावों के संयोग से नाट्य-रस निष्पन्न होता है।

(२) ये निष्पत्ति का अर्थ स्थिति-प्राप्ति करते हैं। नाटक में विभावादि की व्यवस्थित योजना से सहृदय का स्थायी भाव रूप में निवर्तित (परिणात) हो जाता है।

(३) भरत के अनुसार रस आस्वाद्य है। वह वस्तुगत या नाटयगत है जो मूल रूप मे नाटक में निहित रहता है। नाटक में घटित रसनिष्पत्ति के आधार पर ही सहृदय का स्थायी भाव भी रस रूप में परिणत हो जाता है।

इन व्याख्याओ पर उनकी अपनी-अपनी मान्यताओं की छाप है तथा अपने-अपने दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रभाव है। इन व्याख्याओं के नम है--

सर्वश्री भट्टलोल्लट, आचार्य अभिनव गुप्त। इनमें से भट्टलोल्लट का मत उत्पतिवाद या आरोपवाद कहलाता है, आचार्य शंकुक का मत अनुमितिवाद कहलाता है, आचार्य भट्टनायक का मत मुक्तिवाद या भक्तिवाद और आचार्य अभिनव गुप्त का मत अभिव्यंनवाद या अभिव्यक्तिवाद के नाम से पुकारा जाता है।

1.15 भट्टलोल्लट का उत्पत्विाद या आरोपवाद

भरतमुनि की अपनी व्याख्या के उपरांत 'विभावानुश् सूत्र के प्रथम व्याख्याता आचार्य भट्टलोल्लट मीमांसा दर्शन के अनुयायी थे। इनके मत का संकलन "अभिनवगुप्त ने अभिनव भारती" और ध्वन्यालोकलोचन में किया है। अतरू उन्होंने सूत्र में आए हुए 'संयोग' तथा श्निष्पत्तिश् शब्दों की व्याख्याएँ भी मीमांसा दर्शन के आधार पर की है। उन्होंने संयोग के तीन अर्थ किये

उत्पाद्य-उत्पादक सम्बन्ध, गम्य संबंध तथा पोष्य-पोषक सम्बन्धी और 'निष्पत्तिरू' शब्द के भी तीन अर्थ किये-उत्पति, उद्दीप्ति और पुष्टि। इन अर्थो के आधार पर आपने भरत मुनि के सूत्र की व्याख्या

इस प्रकार की कि राम सीता आदि विभावों के उत्पाद्य उत्पादक सम्बन्ध से, भू-विक्षेप नेत्र कटाक्ष, आदि अनुभावों के गम्य गमक सम्बन्ध से और उत्कंठा, आवेग आदि संचारी भावों के पोष्य- पोषक सम्बन्ध से रस की उत्पति होती है। अपनी इस व्याख्या को और भी स्पष्ट करते हुए भट्टलोल्लट ने समझाया कि रस को उत्पत्ति इस प्रकार होती है कि नायिका आदि आलम्बन विभावों द्वारा उत्पन्न होकर, उद्यान, चन्द्र, ज्योत्सना आदि उद्दीपन विभावों द्वारा उद्दीपन होकर नेत्र कटाक्ष, भू विक्षेप रोमांच आदि अनुभावों द्वारा प्रतीति योग्य बनाकर तथा उत्कंठा, आवेग हर्ष आदि संचारी भावों द्वारा पुष्टि होता हुआ कोई स्थायी भाव रस रूपता को ग्रहण करता है। रस मुख्य रूप से नाटकीय कथावस्तु (काव्य) के मूल नायक में होता है।

उदाहरणार्थ - जनक महाराज के उद्यान में सीता का साक्षात्कार करने पर राम में जो प्रबल प्रेमभाव उत्पन्न होकर सीता में उन्हें अनुरक्त कर देता है, वही मूल रस है यह रस सामाजिकों को इस प्रकार प्राप्त होता है। कि सामाजिकी के सम्मुख राम और सीता का अभिनय करने वाले अभिनेता गण वास्तविक राम या सीता तो नहीं होते वे तो राम और सीता के अनुकर्ता या अनुकरण करने वाले होते हैं और उनका अभिनय राम और सीता के मूल कार्यो का अनुकरण होता है। परन्तु सामाजिक या दर्शक उन अभिनेताओं अथवा नटी पर राम और सीता का आरोप कर लेते हैं तथा उन्हें मूल पात्रों से भिन्न जानते हुए भी उनके अभिनय की कुशलता से चमत्कृत होकर दर्शक अनुकर्ता को ही अनुकार्य 'मूल नायक' समझ लेता है। वे अनुकर्ता नट में भी रस की स्थिति मानते हैं। इस आरोप की मान्यता देने के कारण आपके इस मत को 'आरोपवाद' भी कहते हैं।

अत भट्टलोल्लट की यह मान्यता है कि रस अभिनेता या नट में आ गया और सामाजिकों या दर्शकों ने उस नट या अभिनेता पर राम और सीता का पूर्णतया आरोप कर रखा है।

सहृदय सामाजिक नट की योग्यता से उस पर अनुकार्य का आरोप कर लेता है और चमत्कृत हो उठता है। यह चमत्कार ही रस है।

भट्टलोल्लट अनुकर्ता पर अनुकार्य के आरोप को रज्जू-सर्प न्याय के अनुसार मिथ्या तथा भ्रांतिमूलक मानते हैं। इसलिये इस आरोप के कारण वे उस राम अथवा सीता के अनुभावों संचारी भावों एवं स्थायी भाव के अभिनय द्वारा उत्पन्न रस का अनुभव कर लेते हैं। घटितार्थ में, श्आलम्बनश् सीता के साक्षात्कार करने पर 'आश्रयश् श्रीराम के हृदय का रतिभाव (स्थायीभाव), पुष्पवाटिका रिमणीय स्थिति (उद्दीपन) तथा अनुभावों स्वेद, रोमांच, हर्षादि से प्रतीतियोग्य होकर, सचीभवों (हर्ष, औत्सुक्यादि) से पुष्टता प्राप्त कर रस रूप में परिणत हो जाता है।

भट्टलोल्लट पर की जाने योग्य अनेक आपत्तियां है जो उनके **"उत्पत्तिवाद की सीमाएँ"** है।

भट्टलोल्लट की यह मत कई प्रकार से दोषपूर्ण है, क्योंकि जिसमें रति, उत्साह आदि स्थायी भाव होगें उसी पात्र में रस होगें और इसी पात्र को उन रसाों का अभुवभ होगा। परन्तु यहाँ अभिनेता में है। उसी में रस है और उन रसों के अनुभव सामाजिकों या दर्शकों को हो रहा है। यह बात किसी प्रकार तक संगत प्रतीत नहीं होती। यदि यह कहा जाय कि अभिनेता या नट के अभिनय या अनुकरण की सफलता के कारण दर्शकों या सामाजिको को रस का अनुभव हो रहा है तो जिनका अभिनय या अनुकरण अभिनेता या नट कर रहे है उन मूल व्यक्तियों को सामाजिकों या दर्शकों ने देखा ही कहाँ है? फिर वे उनके अभिनय या अनुकरण को सफल या असफल कैसे कहते हैं? यदि यह कहा जाये कि अनुकर्ता में अनुकार्य भी आरोप कर लेने से सामाजिकों या दर्शकों का रस की उपलब्धि हो जाती है तो अनुकार्य या मूल व्यक्ति (राम और सीता) तो हमारी पहँच से परे है और हमने उन्हें देखा भी नही है।, फिर

टिप्पणी

भी हम आरोप कैसे कर सकते हैं? इसके अतिरिक्त आरोपित रस दर्शकों या सामाजिकों को आनन्द विभोर कैसे कर सकता है? वह तो मिथ्या ही होगा और मिथ्या वस्तु, वास्तविक वस्तु का सा आनन्द कदापि नहीं दे सकती। इसके अतिरिक्त अनुकार्य या राम और सीता का दु:ख तो उसी तक सीमित या लौकिक दु:ख से किसी को रस या आनन्द प्राप्त नहीं हो सकता। जैसे राम के भ्राता लक्ष्मण के शक्ति बाण लगने पर राम को जो दु:ख होता है वह दु:ख शोक पैदा करने वाला ही होगा उससे रस या आनन्द की उपलब्धि नहीं होगी। यदि यह कहें कि राम और सीता के ज्ञान से ही सामाजिकों एवं दर्शकों को रस की प्राप्ति हो जाती है तो यह भी उपयुक्त नहीं क्योंकि ऐसा होता तो उनका अभिनय देखने की आवश्यकता ही क्या थी, केवल नाम लेने से ही रस बोध हो सकता था। इन्हीं सब कारणों से भट्टलोल्लट का मत समीचीन नहीं जान पड़ता।

उपरोक्त विवरण से निम्न सीमाएँ ज्ञात होती है:

(१) रस की स्थिति सामाजिक में न मानकर अनुकार्य में मानी जाती है।

(२) सामाजिक में रस की स्थिति नहीं होगी तो नाटक के प्रति उसका आकर्षण भी नहीं होगा।

(३) ऐतिहासिक पात्रों में यदि रस की स्थिति है तो वह तो उनके समाप्त होने के साथ ही समाप्त हो

(४) अतीतकालीन पात्रों के दिवगंत होने पर अनुकार्य या अभिनेता किस प्रकार उनके भावों का अनुभव करेगा?

1.16 भट्टशंकुक का अनुमितिवाद

भरत मुनि के सूत्र की व्याख्या करने वाले दूसरे प्रसिद्ध शंकुक है जिन्होने न्यायशास्त्र के आधार पर अपने मत का प्रतिपादन किया है। आचार्य शंकुक एक कुशल नैयायिक थे। भट्टशंकुक ने रसनिष्पत्ति की विवेचनार्थ अनुमितिवाद को प्रस्तुत किया जिसका स्वरूप इस प्रकार है

भट्टशंकुक के अनुसार संयोग का अर्थ - अनुमान्य-अनुमापक भाव सम्बन्ध क्रिया है और निष्पत्ति का अर्थ-अनुमिति या अनुमान क्रिया है।

आपकी धारणा है कि मूलतरू रसोत्पति मूल नायक में ही होती है। जब दर्शक या सामाजिक जिस समय रंग मंच पर राम और सीता का अभिनय देखते हैं तब वे अभिनेताओं या नटों पर मूल राम या सीता का आरोप नहीं करते अपितु उन अभिनेताओं या नटों में राम और सीता अनुमान कर लेते हैं उनका यह अनुमिति ज्ञान ही रस बोध का कारण होता है। इसे ओर स्पष्ट करें तो ज्ञात होगा कि आचार्य शंकुक के मत से राम या सीता आदि आलम्बन विभाव चन्द्र ज्योत्सना, वसना समीर आदि-उद्दीपन विभाव, रोमांच, भू विक्षेप आदि अनुभाव तथा हर्ष आवेग आदि संचारी भाव तो अनुमापक है और इन सबसे पुष्ट स्थायी भाव रूप रस अनुमान्य या अनुमेय है।

शंकुक के अनुसार, अनुमान की यह प्रक्रिया 'चित्र तुरंग न्याय' को स्वीकार किया है और बतलाया है कि जैसे चित्र में प्रदिर्शित घोड़ा वास्तव में घोड़ा नही होता-फिर भी उसे घोड़ा के रूप में अनुमान कर लिया जाता है, वैसे ही राम और सीता का अभिनय या अनुकरण करने वाले अभिनेता वास्तविक राम और सीता नहीं होते किन्तु राम ओर सीता के रूप में ही उनका अनुमान कर लिया जाता है। योग्य शिक्षा और सतत् अभ्यास के कारण अभिनेता अपने अभिनय में इतनी कुशलता प्राप्त कर लेते हैं कि अभिनय करते समय उसे यह प्रतीति ही नहीं होती कि वह राम या सीता नहीं है अपितु अभिनय में अत्यन्त तन्मय होने के कारण वह स्वंय को राम या सीता समझ लेता है ऐसी स्थिति में उसके कुशल

टिप्पणी

अभिनय को देखकर दर्शक या सामाजिक भी उसके अभिनय या अनुकरण के कृत्रिम होते हुए भी उसे वास्तविक जैसा अनुमान कर लेते हैं और अपने इस अनुमान के बल पर ही रस या आनन्द में निमग्न हो जाते हैं। अतरू चित्र तुरंग न्याय से अभिनेता का राम या सीता से तादात्मय करके उसके अनुभावादि द्वारा अनुमापक संबंध से सामजिकी या दर्शकों को रस की अनुमिति होना ही अनुमितिवाद कहलाता है।

इस प्रकार यत्र यत्र धूमस्तत्रतत्रागिन के आधार पर नट द्वारा विभावादि के अनुकरण से रस का अनुमान होता है (नट रस का अनुकरण करता है वह विभावादि का अनुकरण काव्यनिबद्ध तथ्यों से अनुभावों का अनुकरण अभिनय की शिक्षा तथा हर्षादि व्यभिचारी भावों का अनुकरण लोकानुभव के आधार पर करता है) यह अनुमान वास्तविकता का उद्‌घाटक न होने से नीरस नहीं अपितु लक्ष्य की उत्कृष्टता–रसानुभूति के कारण सरस तथा आनंदप्रद होता हैं।

आचार्य शंकुक के अनुमितिवाद का अनुशीलन करने पर ज्ञात होता है कि इस मत में प्रमुखतया दो बातों पर विशेष बल दिया गया है– एक तो अनुकरण पर और दूसरे अनुमान पर। इनमें से प्रथम आपत्ति तो यह है कि आचार्य शंकुक मूल पात्रों में रस या भावों की सत्ता स्वीकार करते हैं और अभिनेता या नट को उन भावों का अनुक्त्ती बतलाते हैं। परन्तु कभी–कभी अनुकार्य के स्थायी भावों संचारी भावों आदि का किसी अभिनेता द्वारा अनुकरण करना सर्वथा असम्भव है।

जैसे कोई अभिनेता हनुमान के समुद्रोल्लघंन का अनुकरण कभी नहीं कर सकता। डॉ. इतना अवश्य है कि वह उस व्यक्ति विशेष की वेशभूषा का अनुकरण कर सकता है। इसके अतिरिक्त हनुमान के द्व ारा यदि कोई सत्य भी प्रतीति करना चाहें तो यह भी सर्वथा असंभव है क्योंकि चित्र का घोड़ा जैसे वास्तविक घोड़ा नहीं हो सकता वैसे ही अभिनेता कभी वास्तविक राम या सीता नहीं हो सकता और भाव वास्तविक या सत्य की अवहेलना करके मिथ्या आधार पर हम अनुमान के सहारे आनन्द प्राप्त करने की बात कहते हैं तब यह भूल जाते हैं कि किसी अनुमान से वास्तविकता का मान नहीं होता। जैसे कोई मृगतृष्णा के जल से स्नान नहीं कर सकता वैसे ही केवल अनुमान से कोई रस या आनन्द को प्राप्त करने में सर्वथा असमर्थ ही रहेगा। इसके अतिरिक्त अनुमान तो केवल बुद्धि का विषय होता है क्योंकि जब हम किसी स्थान पर धुआं उठता हुआ देखते हैं तो वहां आग के होने का अनुमान लगा लेते हैं और यदि वह धुआं ही मिथ्या हो तो हमारा अनुमान भी सर्वथा मिथ्या ठहरेगा और वास्तविकता से बहुत पीछे हटना पडेगा। अतएव रस या भावों का संबन्ध कभी अनुमान से नहीं हो सकता क्योंकि ये तो प्रत्यक्ष अनुभव के आधार पर व्यजंना द्वारा हमारी भावना के विषय बना करते हैं। वहाँ अनुमान की कोई आवश्यकता ही नहीं है। इसके साथ ही इस अनुमितिवाद द्वारा यह भी सिद्ध नहीं होता कि राम और सीता की रति दर्शकों या सामाजिकों की रति बन जाती है। इसके अतिरिक्त इस मत के द्वारा यह भी समाधान नहीं होता कि शोक, भय, क्रोध आदि दुखात्मक स्थायी भाव किस तरह रूप होकर सदैव आनन्द की अनुभूति प्रदान किया करता है। इन सभी अभावों, त्रुटियों एवं दोषों के कारण अनुमितिवाद सर्वथा अनुपयुक्त जान पड़ता है और इसके द्वारा रस निष्पत्ति की समीचीन व्याख्या नहीं हो पाती।

भट्टशंकुक के मत में कुछ न्यूनताएं विभिन्न कारणों से ज्ञात होती है

(१) रस को अनुकार्यगत मानने से महापुरूषों के प्रति पूज्य भाव के कारण उनके रत्यादि भावों की अनुमति में अनौचित्य की संभावना है।

(२) अनुमान के आधार पर रस निष्पत्ति का विचार निराधार है क्योंकि अनुमान्ये जिन स्थूल कारणों को होना आवश्यक है रसनिष्पत्ति में उनका अभाव होता है।

(३) अनुमान कभी भी संपूर्णतरू आनंनप्रद नहीं हो सकता। आनंद अनुमान में नहीं, प्रदत्त अनुभूति में होता है।

टिप्पणी

(३) अनुमानाधारित रसनिष्पत्ति मान लेने पर उसमें श्रेणी या कोटि-भेद उत्पन्न होगा जिसका अनुमान जितना सही होगा, उसे उतनी ही अधिक मात्रा में रसानुभूति होगी।

1. भट्टनायक का मुक्तिवाद

भरतमुनि प्रणीत रससूत्र के तीसरे महत्वपूर्ण व्याख्याता भट्टनायक ने पहली बार रस-प्रकरण में दर्शक का महत्व प्रकाशित किया। इनका रस विवेचन अपूर्व एवं सर्वथा तर्कधारिता रूप में सामने आया।

आपने अपने इस मत में अपने पूर्ववर्ती आचार्यो का खण्डन करते हुए बतलाया है कि न तो रस की उत्पत्ति होती है और न अनुमिति होती है। अपितु रस की मुक्ति होती है क्योकि रस तो योगात्मक आनन्द का नाम है। इसीलिये आपने भरत मुनि के सूत्र में आये हुए "संयोग और निष्पति" शब्दों की व्याख्या करते हुए - "संयोग का अर्थ भोज्य भोजक सम्बन्ध" बतलाया और 'निष्पत्ति' का अर्थ मुक्ति किया। इसीलिये अपने मत का नाम मुक्तिवाद है। अपनी व्याख्या के अनुसार आचार्य भट्टनायक ने कहा कि विभाव, अनुभाव और संचारी भावों के भोज्य भोजक सम्बन्ध द्वारा रस की मुक्ति होती है। इस मुक्ति अथवा भोग की प्रक्रिया को स्पष्ट करने के लिये आपने तीन व्यापारो का उल्लेख किया।

(१) अभिधा (२) भावकत्व और (३) भोजकत्व

1. **अभिधा क्रिया** - इसके द्वारा नाटक में प्रयुक्त शब्दार्थ से परिचय होता है। यह सामान्य तथा प्रथम शक्ति है, इसकी सीमा यही तक है। अभिधा व्यापार के द्वारा दर्शक या सामाजिक को शब्दार्थ का ज्ञान होता है और वह व्यापार के अर्थ से परिचित होता है।

2. **भावकत्व व्यापार** - के द्वारा दर्शकों या सामाजिकों का चित राग-द्वेष से मुक्त होकर अपने पराये के भेदभाव को छोड़ देता है, क्योंकि भावत्व व्यापार के कारण ही राम और सीता के हृदय में उत्पन्न रति आदि स्थायी भाव अपने वैयक्तिक सम्बन्ध का परित्याग करके सामान्य रूप को अथवा साधारणीकरण को प्राप्त होते हैं। इसी के द्वारा दर्शक नाटक के पात्रों (नायक-नायिकादि) को विशिष्ट व्यक्ति (दुष्यंत-शकुंतलादि) न मानकर उनका साधारण ीकरण कर लेते हैं। अतरू विभावादि के साथ साधारणीकरण के साथ ही स्थायीभाव की साधारणीकरण होता है। इसी क्रिया से चमत्कारबोध होता है तथा नाटक के पात्रों का ऐतिहासिक व व्यक्तिगत स्वरूप हट सा जाता है। यह "विशिष्ट के सामान्यीकरण" की प्रक्रिया है।

   इसका अभिप्राय यह है कि राम सीता विभावादि का वैयक्तिक सम्बन्ध साधारण में परिणत हो जाता है और वे मानव मात्र के अनुभव के योग्य बन जाते हैं। इस भावकत्व व्यापार के फलस्वरूप ही राम और सीता का दाम्पत्य-प्रेम में झलकने लगता है वह जन साधारण की वस्तु बन जाता है। इसीलिये भावकत्व व्यापार को ही साधारणीकरण नाम दिया जाता है।

3. **भोजकत्व व्यापारः** तीसरी व अंतिम क्रिया है भोजकत्व - व्यापार, जिसके द्वारा साधारण ीकृत विभावादि से नाट्यरस का भोग किया जाता है। अर्थात् व्यक्तिगत भावना के प्रतिबन्ध की समाप्ति हो जाने से तथा सत्वस्थ हो जाने से विव्यकितक अनन्द की प्राप्ति होती है। जिस समय दर्शक दुष्यंत-शकुंतला के प्रेम-व्यापार को अपना ही प्रेम-व्यापार समझ लेता है, उस समय उसके हृदय की सभी राजस और तामस भावनाएँ दब-सी जाती है और

विशुद्ध सात्विक भावना का उदय होता है। इसके साथ ही आत्मानंद की वह तल्लीनता प्राप्त होती है जिसमें रसानुभूति है।

भोजकत्व व्यापार के द्वारा दर्शक या सामाजिक उस रूप का उपयोग करते हैं जो सात्विक गुण के उद्रेक से प्रादुभूति प्रभाव-गुणयुक्त अंखड़ आनन्दमय होता है। भोजकत्व व्यापार द्वारा रस का जो भोग किया जाता है वह योग अनुभव एवं स्मृति दोनों से ही सर्वथा विलक्षण होता है क्योंकि न तो प्रत्यक्ष अनुभव ही इसकी बराबरी कर सकता है। इस समय सहृदय सामाजिकों या दर्शकों का हृदय एक ओर तो सत्यगुण के उद्वेग के कारण चौतन्य के प्रकाश से युक्त होने पर आनन्द विभोर हो जाता है दूसरी ओर उनके हृदय में रजोगुण एवं तमोगुण की भी मात्रा बनी रहती है। जिससे उनके चित की क्षति विस्तार और विकास नामक दशाएँ उत्पन्न होती है, वह अल्प सम्बन्धी ज्ञान से सर्वथा रहित होने के कारण ही अलौकिक कहलाती है। क्योंकि वह लौकिक आनन्द से विलक्षण होती है। अतरू आचार्य भट्टनायक की व्याख्या को स्पष्ट करते हुए यह कहा जा सकता है कि उनके द्वारा प्रतिपादित अभिधा व्यापार द्वारा सहृदयों को नाटक या काव्य को देखने या सुनने पर अर्थ का बोध होता है।

भावकत्व व्यापार द्वारा सहृदय जन यह भूल जाते हैं कि जिन राम या सीता को नाटक में दिखाया हो या काव्य में सुना है वे अपने है या पराये है अपितु वे सर्व साधारण से प्रतीत हो ने लगते हैं और भोजकत्व व्यापार द्वारा सहृदयजन उन साधारणीकृत रति, उत्साह आदि का रसस्वादन करने लगते हैं। इस तरह उक्त तीनों व्यापारों द्वारा ही रसोपभोग सम्बन्धी कार्य की सिद्धि हो जाती है और इसके लिये आरोप अनुमान की आवश्यकता नहीं पड़ती।

आचार्य भट्टनायक की मुक्तिवादी वैसे तो बड़ा ही मनोवैज्ञानिक प्रतीत होती है क्योंकि रस प्रक्रिया के क्रमिक सोपानों का जितना सटीक विवेचन आपने किया है, उतना अन्य कोई पूर्ववर्ती आचार्य नही कर पाया है। परन्तु आपने अभिधा के अतिरिक्त जिन दो व्यापारों का उल्लेख किया है उनका वर्णन न तो कहीं किसी शास्त्र में मिलता है और न उनका कोई अन्य आधार ही दिखाई देता है। साहित्य शास्त्र में अभिधा लक्षण तथा व्यंजना शक्तियों का तो उल्लेख अवश्य मिलता है किन्तु भावकत्व और भोजकत्व का कहीं कोई वर्णन नहीं मिलता है।

अत: इन व्यापारों की मान्यता शास्त्र सम्मत न होने के कारण निराकार है। इसके अतिरिक्त अभिधा तो प्रत्येक के अर्थ के साथ ही है। इस व्यापार की अलग कल्पना करने से कोई लाभ नहीं। साथ ही जिस समय सहृदयों का मन नाटक या काव्य के देखने या सुनने से सुख दु:खादि रूप सम्पूर्ण क्लेशों से विमुक्त हो जाता है और उसे यह प्रतीत होने लगता है कि इस में सत्वगुण की प्रधानता हो गई है और विभ्रान्ति की अवस्था को प्राप्त होने के कारण इससे वस्तुओं को सारणीकृत रूप में देखने की शक्ति आ गई है, तब फिर भावकत्व एवं भोजकत्व व्यापार का उल्लेख करना व्यर्थ है। इसके भोजकत्व व्यापार का उल्लेख करना व्यर्थ है। इसके अतिरिक्त आचार्य भट्टनायक जिस रस को भोग कहते हैं वह रस की प्रतीति या अनुभूति ही है, क्योंकि जिस तरह हम पके हुए चावल को यही कहते हैं कि "भात पक गया" जबकि भात का अर्थ ही पका हुआ चावल होता है। वहाँ उपचार द्वारा भात पकने का अर्थ चावल पकना ही लिया गया है उसी तरह भोग कहने से भी उपचार के द्वारा प्रतीति का ही भाव लिया जायेगा। इतना अवश्य है कि प्रतीति अनुमान

टिप्पणी

आदि से सर्वथा विलक्षण होती है। इस प्रकार आचार्य भट्टनायक के मत पर की जाने वाली आपत्तियाँ है

(१) उन्होंने रस की उत्पत्ति और अभिव्यक्ति दोनों का निषेध कर दिया है जिससे रस की सत्ता ही असिद्ध हो जाती है।

(२) भावकत्व और भोजकत्व क्रिया-व्यापारों की पृथक कल्पना निराधार है जबकि भाव. कत्व का ध्वनि में और भोजकत्व का रसास्वाद में अंतर्भाव हो सकता है।

(३) दर्शक नाटक के पात्रों के ऐतिहासिक या विशिष्ट व्यक्तित्व को कभी पूर्णतरू नहीं भूलता।

अत: आचार्य भट्टनायक के मत में कुछ दोष अवश्य निकाले गये है किन्तु उनकी मौलिकता एवं नूतन व्याख्या पद्धत्ति की सभी विद्वानों ने प्रशंसा की है। उन्होंने साधारणीकरण के सिद्धान्त की प्रतिष्ठा करके रस के आस्वादन का अभूतपूर्व अर्थ सिद्ध किया है। इतना ही नहीं सर्वप्रथम आचार्य भट्टनायक की ही सभी रसों का आस्वादन का अभूतपूर्व अर्थ सिद्ध किया है। इतना ही नहीं सर्वप्रथम आचार्य भट्टनायक की ही सभी रसों का आनन्दमयी स्थिति को समझाने में सफलता प्राप्त हुई है। अतएव आचार्य भट्टनायक की व्याख्या महत्वपूर्ण स्थान है।

2. अभिनवगुप्त का अभिव्यक्तिवाद

रसनिष्पत्ति-विवेचन में आचार्य की स्थिति सर्वाधिक महत्तव पूर्ण तथा संशक्त है। इस मत के प्रवर्तक आचार्य अभिनव गुप्त है। ये रस को सहृदयनिष्ट मानते हैं। रस आस्वादन है और विभावादि व्यंजकों के द्वारा व्यक्त होता है। आचार्य अभिनव गुप्त शैव दर्शन के अनुयायी थे और मुख्यतया कश्मीर के प्रतिभिज्ञा दर्शन को मानते थे। आपने रस प्रक्रिया की व्याख्या करते हुए बतलाया कि रस की न तो उत्पत्ति होती है न अनुमति होती है अपितु रसों के रति आदि मूल स्थायी भाव सहृदयों के अतरू कारण से ही वासना या संस्कार रूप में विद्यमान रहते हैं। किन्तु जब वे सहृदय किसी काव्य को पढ़ते हैं या नाटक को देखते हैं तब व्यंजना के अलौकिक विभाजन व्यापार द्वारा उनके हृदय में स्थित रस की ही अभिव्यक्ति हो जाती है। इस प्रकार आपने भरत मुनि के सूत्र में आये हुए संयोग का अर्थ व्यंग्य व्यंजक सम्बन्ध किया और निष्पत्ति का अर्थ अभिव्यक्ति किया। अत: सहृदय सामाजिकों या दर्शकों के हृदय में वासना के रूप में स्थित रति आदि स्थायी भावों को जब अभिनेता या नट द्वारा प्रदर्शित अनुभाव संचारी भाव आदि स्थायी भावों को जब अभिनेता या नट द्वारा प्रदर्शित अनुभाव संचारी भाव आदि प्रभावित करते हैं तब वे स्थायी भाव सहदयों के हृदय में ही इस तरह अभिव्यक्त हो जाते हैं जिस तरह सूखी मिट्टी पर जल छिड़कने से उसकी अत्यन्त गन्ध सहसा अभिवक्त हो जाती है इसी दृष्टि से विभाव, अनुभाव, संचारी भाव आदि रस के व्यंजक है और रस व्यंग्य होता है।

विभाव अनुभाव आदि के द्वारा रसास्वादन कैसे किया जाता है इस प्रक्रिया को समझाते हुए आचार्य अभिनव गुप्त ने महाकवि कालिदास कृत "अभिज्ञान शाकुन्तलम" के ग्रीवाम अभिराम श्लोक की व्याख्या की है: और कहा है कि सर्वप्रथम सहृदय दर्शक रंग मंच पर व्यक्ति विशेष को दृष्यन्त वेश में देखते हैं और यह समझ जाते हैं कि यह व्यक्ति दुष्यन्त का अभिनय कर रहा है अथवा दुष्यन्त है। हमें अपने स्थूल प्रत्यक्ष की स्थिति बतलाया है। तदनतर संगीत आदि के प्रभाव से सहृदयों या दर्शकों के हृदय में दूसरी स्थिति उत्पन्न होती है, जिसमें से उनकी कल्पना शनै:शनैरू उद्धबद्ध होने लगती है और यहां दुष्यन्त जैसे व्यक्ति विशेष का

बोध न रहकर भी द्वैत की भावना बनी रहती है। इस दूसरी स्थिति के उत्पन्न होने पर सहृदय दर्शकों का चित उस व्यक्ति में न तो उनके अपने रहते हैं न किसी अन्य में उनका व्यक्ति विशिष्ट सम्बन्ध रहता है। उस समय दर्शक सहृदयों के हृदय में विभावादि के व्यक्तित्व लोप के साथ-साथ वासना रूप में स्थित स्थायीभाव साधारणीकृत होकर अभिव्यक्त होने लगते हैं। अब यदि सहृदयों के लिये किसी प्रकार के विघ्न से प्रभावित न हो तो साधारणीकरण द्वारा अभिव्यक्त इन्हीं स्थायी भावों में उन्हें रस या आनन्द प्राप्त होने लगता है यही अन्तिम स्थिति, है। इस प्रकार स्थायी भाव सभी सहृदय, सामाजिकों के चित में संस्कार रूप में विद्यमान रहते हैं। लोकानुभव से यह इत्यादि स्थायीभाव स्थिरता प्राप्त कर लेते हैं। विभावादि को देखने से अनुकार्य और सामाजिक के भाव की तादात्म्य हो जाता है, सही साधारणीकरण है। जिसकी सहायता से सुप्त भाव जागृत हो जाता है। भाव की निर्विघ्न प्रतीति से सभी की एक वासना हो जाती है। समष्टिगत रसभावना के कारण अपने पराए का भेद लुप्त हो जाता है। इस अद्वैत दशा में भाव की सुखमय प्रतीति होती है यही भावबोध समग्ररूप में रस है। रस व्यंग्य है और विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी अभिव्यंजकों द्वारा अभिव्यंजित होता है। रस की अभिव्यक्ति ही रसनिष्पत्ति है।

इस प्रकार ष्अभिव्यक्तिवाद की विशिष्टता यह है कि भट्टनायक के समान अभिनवगुप्त ने भी साधारणीकरण की क्रिया का समर्थन किया है किन्तु दोनों के दृष्टिकोण में अन्तर है। भट्टनायक के अनुसार, दर्शक जहाँ काव्यानाटकादि के ऐतिहासिक एवं विशिष्ट पात्रों को सामान्य मानकर रसोपयोग्य करता है वहाँ अभिनवगुप्त के अनुसार दर्शक जब निर्लिप्त भाव से मानता है कि किसी वस्तु को देखकर मेरे मन में जैसी अनुभूति हो रही है वैसी ही प्रत्येक सहृदय के हृदय में भी तभी यह रसोपयोग में समर्थ हो पाता है।

3. संक्षेप में अभिनवगुप्त के अनुसार

दर्शक के हृदय में जो रति आदि स्थायीभाव अव्यक्तावस्था में रहते हैं वे विभावादि व्यंजकों के द्वारा प्रकट हो जाते हैं।श्श् अर्थात् रस अभिव्यक्त होता है तथा रत्यादि स्थायीभावों की अभिव्यक्ति ही रसोपभोग

इस प्रकार साधारणीकरण ही वह व्यापार है जिससे सहृदयों के हृदय में वासना रूप से स्थित स्थायी भावों को उबुद्ध करने वाले विभावादिकों के द्वारा रस को अभिव्यक्त करने की शक्ति होती है। रस सिद्धान्त की स्वीकृति से यह समस्या भी हल हो जाती है कि दूसरे के आनन्द से सामाजिक सहृदय कैसे आनन्दित होते हैं। क्योंकि इस मत के अनुसार अन्य व्यक्तियों के भावों का वर्णन देखेकर या सुनकर या पढ़कर सहृदय सामाजिकों, पाठकों या दर्शकों के हृदय में स्थित वासना ही अभिव्यक्त हो उठती है और वासना की अभिव्यक्ति ही रसास्वाद की स्थिति है। इस प्रकार आचार्य अभिनवगुप्त ने वासनात्मक संस्कार, विघ्न और उनका विनाश, साधारण ीकरण की व्यापकता, रसानुभूति की अभिव्यक्ति में विभावादि का योग, रस का अभिव्यंजकता आदि कितनी ही बातों पर अव्यक्त मौलिक विचार प्रस्तुत किये है और प्रतिभिज्ञा दर्शन के अभेदवाद से उनकी संगति मिलाते हुए अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है।

इस सिद्धान्त द्वारा जहाँ रस निष्पत्ति की सटीक व्याख्या हुई है, वहाँ रस की आनन्दमयता की आध्यात्मिक व्याख्या, हुई है, वहाँ रस की आनन्दमयता की आध्यात्मिक व्याख्या भी प्रस्तुत की गई है। इतना ही नहीं इस सिद्धान्त के द्वारा मानव मात्र की हार्दिक एकता का भी प्रतिपादन हुआ है और व्यंजना व्यापार का महत्त्व भी स्थापित किया गया है। निश्चित अभिनवगुप्त की

रस विवेचना पर्याप्त वैज्ञानिक और स्पष्ट है जिस कारण से वह अद्यावधि मान्य है। इसी कारण अन्य सभी व्याख्याओं में आचार्य अभिनव गुप्त की भी व्याख्या सर्वोपरि मानी जाती है।

1.17 प्रश्न-उत्तर

लघु उतरीय प्रश्न

1. **भारतीय साहित्यशास्त्र के विकासक्रम का संक्षिप्त परिचय दीजिए?**
2. **भरतमुनि के रस सूत्र की संक्षिप्त व्याख्या कीजिए।**
3. **भट्टलोल्लट का उत्पत्तिवाद, सम्बन्धी कथन की संक्षिप्त व्याख्या करो।**
4. **भट्टशंकुक की अनुमितिवाद पर लेख लिखिए।**
5. **भट्टनायक का मुक्तिवाद रस निष्पत्ति के सम्बन्ध में ज्ञात कीजिए।**

विस्तृत उतरीय प्रश्न

1. **साहित्यशास्त्र के विकास की 5 अवस्थाओं का वर्णन कीजिए?**
2. **भारतीय साहित्यशास्त्र का स्वर्णयुग नवअन्वेषण काल को माना जाता है, स्पष्ट कीजिए?**
3. **रस का स्वरूप ज्ञात करों। रस सिद्धान्त के इतिहास काल का वर्णन कीजिए?**
4. **रस शब्द की व्युत्पत्ति एवं परिभाषा बताइये? रस के विभिन्न अंग या अवयव ज्ञात कीजिए?**
5. **आचार्यों द्वारा हिन्दी काव्य में बताये गये विभिन्न रसों की परिभाषा उदाहरण सहित दीजिए?**

♦♦♦♦♦

इकाई 2

अलंकार सिद्धांत

संरचना

2.1 अलंकार की परिभाषा
2.2 अलंकार सिद्धान्त
2.3 अन्य आचार्यो का मत
2.4 अलंकार का स्वरूप
2.5 अलंकार का विकास
2.6 अलंकारों के भेद वर्गीकरण
2.7 अलंकार के भेद
2.8 काव्य मे अलंकारो का स्थान
2.9 काव्य में अलंकारों का महत्व
2.10 अलंकार और रस
2.11 ध्वनि रसवादियों का अलंकार विषयक दृष्टिकोण
2.12 अलंकार काव्य के सांध्य है या साधन
2.13 अलंकार काव्य के उत्कर्ष के साधन
2.14 अलंकार काव्य के उत्कर्षक या अपकर्षक
2.15 काव्य का अनिवार्य तत्व रस अलंकार नहीं
2.16 प्रश्न–उत्तर

टिप्पणी

2.1 अलंकार की परिभाषा

अलंकार शब्द की व्युत्पत्ति - अलंकार शब्द की व्युत्पत्ति अलं और कार शब्दो के योग से हुई है। जिसका अर्थ है, भूषित करने वाला। इस प्रकार जिस साधन से वस्तु अलंकृत हो या अलंकृत की जाय वह अलंकार है। वैयाकरण के अनुसारः अलंकारों तीतिव्यमलंकार और अलंक्रियतेष्वेनेत्वलंकार दो व्युत्पतियां सिद्ध होती है। अलंकृत करने वाला, अर्थात अलंकार और जिसको अलंकृत किया जाय वह भी अलंकार है। इस प्रकार वैयाकरणों ने दो रूपों कर्ता तथा करण में अलंकारो का महत्व सिद्ध किया है। काव्याशास्त्र में भी अलंकारों का व्यापक विवेचन प्रारम्भ से ही होता रहा है। इस शास्त्रीय विवेचनों में भी अलंकारो के तीन रूप माने गये है, जो समाज और काव्य दोनो पर आरोपित हो सकते हैं।

सामान्य विवेचना में अलंकार सौन्दर्य का पर्याय होता है- 'सौन्दर्य अलंकार' जबकि कुछ विद्वानों ने काव्य के समस्त वाहय शोभादायक ततव को अलंकार कहा है। इसके विपरीत कुछ विद्वानों ने अलंकारों का विशिष्ट अंत में भी विश्लेषण किया है और इसे काव्य शोभाकारक धर्म के रूप में मान्यता दी है।

मम्मट के अनुसारः

उप कुषेन्तितेः सन्त योष्षड.ग्रेण अनुचित
हतादिवदलंकारास्तेष्णुप्रासो व यादयः

जब काव्य में अलंकार का प्रश्न उठाया जाता है तो उसमें इस बात की आवश्यकता होती है कि क्या काव्य भौतिक अलंकारों से भिन्न है? वस्तुतरू कलाकृति की सर्जना केवल दैनिक उपयोग से सम्बन्धित नहीं होती वरन् उसका विशिष्ट प्रभाव भी होता है जो सामान्य से ऊपर होता हैं। इसमे रचनाकार की निजी अनुभूति की विद्यमानता होती है। इस सत्य को भव्यतर प्रस्तुति देने के लिए कवि कल्पना का योग लेकर सर्जन करता है और इससे कला चमत्कार की सृष्टि होती है। हिन्दी मे रचना प्रक्रिया ने अलंकारों के स्वरूप को व्याख्यायिक करने का प्रयत्न किया और उसके प्रभाव की भिन्न-भिन्न स्थितियां बतायी।

इस प्रकार काव्य में अलंकार की स्थिति के सन्दर्भ में एक विकास खड़ा हुआ जिसके दो वर्ग लिए जा सकते हैं-प्रथम वर्ग में विद्वान आते हैं जो काव्य में अलंकार को ही सौन्दर्य मानते हैं और दूसरे वे विद्वान जो अलंकारों को शोभावर्धक बनाते हैं।

अलंकार शब्द 'अल' + 'कार' शब्दों के योग से बना है। यहाँ अलं का अर्थ है- 'भूषण' तथा 'कार' का अर्थ है दृ 'वाला' अर्थात् जो अलंकृत करें अथवा शोभा बढ़ाने में सहायक हो। जिस प्रकार आभूषण पहनने से स्त्री के सौन्दर्य में चार चांद लग जाते हैं। उसी प्रकार अलंकारों के प्रयोग से काव्य का सौन्दर्य बढ़ जाता है। अलंकार के प्रयोग से शब्द और अर्थ में चमत्कार उत्पन्न हो जाता है।

अत: काव्य के शब्द तथा अर्थ में चमत्कार उत्पन्न करके काव्य की शोभा बढ़ाने वाले तत्वों को अलंकार कहते हैं। अलंकार विषयक आचार्यो के मतों का विवेचनः संस्कृत काव्य शास्त्र में श्काव्याशास्त्रश् प्रथम काव्य शास्त्रीय ग्रन्थ है। जिसमें आचार्य भरत ने अलंकारों का प्रथम विवेचन किया है। आचार्य भरत ने अलंकारों को भूषण माना है। जो धारण करने पर वस्तु का अलंकार करती है।

2.2 अलंकार सिद्धान्त

अलंकार सिद्धान्त के विकास क्रम को निम्नलिखित शीर्षकों में निरूपित किया जा सकता है।

आचार्य भरतः भरत ने काव्याशास्त्र में रस का विशेष महत्व दिया है। अलंकार का सबसे पूर्व उल्लेख आचार्य भरत के श्काव्यशास्त्रश् में मिलता है आचार्य भरत ने रूपक के सम्बन्ध में प्रसंगवश केवल चार अलंकारों का उल्लेख किया है।

(१) उपमा (२) रूपक

(३) दीपक (४) यमक।

भरत के काव्यशास्त्र के उपरान्त काव्याशास्त्रीय विवेचना में अलंकारों का स्वरूप वैशिष्दय अनेक आचार्यों ने सिद्ध किया है और इसी क्रम में काव्यात्मा का विवाद प्रारम्भ हुआ। जिसमें भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों का विकास हुआ। इस आत्मवाद की मान्यता का आधार काव्य में आनन्द की परिकल्पना है। इस आनन्द को दार्शनिक भाव भूमि पर ब्रहानन्द की भांति सिद्ध किया गया और इसका भाव आत्मा को माना गया है।

इस प्रकार ब्रह्मानन्द सहोदरत्व की परिकल्पना के पश्चात विभिन्न आचार्यो में आनन्दाभूति के उपादान की चर्चा हुई अलंकार रस, ध्वनि, रीति और वक्रोक्ति जैसे काव्य सिद्धान्त विकसित हुए जिनके समर्थकों ने काव्य में अपने मत को आनन्द का कारण और अन्य तत्वों को उपस्कारक मात्र कहा। इस प्रकार अलंकार भी काव्य की एक विशिष्ट सिद्धान्त बन गया ।

अलंकार सिद्धान्त के व्याख्याता आचार्य भामह को उन्होंने काव्यालंकार ग्रन्थ में अलंकारों का विवेचन करते समय लिखा है कि उनसे पूर्व भी अलंकारों का विवेचन हो रहा था।

"रूपकादिलंकार एतस्याह घोषितः।
न कान्तमपि विभूष विभाति वनिताननम।।

आचार्य भामहः भामह का स्पष्ट मत था कि अलंकार के प्रयोग के बिना काव्य का सौन्दर्य उसी प्रकार नही बढ़ता जिस प्रकार सौन्दर्य अभिमण्डित स्त्री का मुख आभूषण के बिना। भामह का मत वक्र शब्दार्थ की परिकल्पना था जिसके माध्यम से अलंकार की सृष्टि होती है। भामह ने काव्यालंकार में अलंकारों का विशद विवेचन किया है। उसके मतानुसार अपुष्ट अर्थ वक्रोक्ति हीनता और प्रसादगुण युक्त काव्य केवल श्रव्य होता है प्रभाव श्रम नहीं। अलंकारशास्त्र का प्रथम महत्वपूर्ण ग्रंथ 'काव्यालंकार' है। आचार्य भरत के पश्चात् रस रूपक को ही मुख्य अंग माना जाने लगा और काव्य में उक्ति-चमत्कार की मुख्य था। आचार्य भामह ने इसी का प्रतिनिधित्व किया। उन्होने दृश्य काव्य की सर्वथा उपेक्षा करते हुए केवल श्रव्य-काव्य के ही अंगो-प्रधानतरू अलंकारों का ही आख्यान किया है। उनका यह विवेचन अत्यन्त पूर्ण एवं व्यवस्थित है। उन्होनें अलंकारों की संख्या ३क्र मानी है और वक्रोक्ति को उन सबका प्राण माना है। उन्होने अलंकार को ही काव्य का प्रधान अंग माना है और इसका भाव का स्वतन अस्तित्व न मानकर उसका रसवत अजीस्वित् आदि अलंकारों में ही अन्तर्भाव किया है। इस प्रकार उसके अनुसार काव्य प्राण है। अलंकार और अलंकार का प्राण है-वक्रोक्ति।

"सैवा सर्वैव वक्रोश्नियार्थो विभाव्यते।
यत्नोलस्यां कविना कार्यः कलिलंकारोष्नया विना।।"

वक्रोक्ति का अर्थ है - शब्द और अर्थ की विचित्रता।

इस प्रकार भामह के अनुसार अलंकार शब्द और अर्थ के वैचिक्र्य का नाम है।"

आचार्य दण्डीः दण्डी प्रख्यात अलंकारवादी आचार्य रहे है। भामह के उपरान्त दण्डी ने अलंकार की विवेचना की और स्पष्ट तथा समृद्ध किया। उन्होने अलंकारों को काव्य का शोकारक धर्म माना है अर्थात् उन्होनें स्पष्ट रूप से स्वीकार किया कि काव्य की शोभा सर्वथा अलंकार के आश्रित है, अतएव अलंकार काव्य का शाश्वत धर्म है।

"काव्य शोभाकरान् धर्मान् अलंकारात् प्रचक्षते"

टिप्पणी

दण्डी ने उनकी संख्या ३५ मानी है। भामह के कुछ अलंकार भेदों को (जैसे उपमेयपिमा, प्रतिवस्तूपमा, उपमा रूपक, उत्प्रेक्षा आदि) को उन्होने छोड़ दिया है। इसके विपरीत लेश, सूक्ष्म और हेतु को जिन्हे भामह ने वक्रोक्ति के अभाव में अलंकार की पदवी नहीं दी थी, दण्डी ने स्वीकृत किया है और साथ ही यमक चित्रवन्ध

और प्रद्देलिका आदि का विस्तृत विवेचन करते हुए शब्दालंकार को अपेक्षाकृत अधिक महत्व तथा विस्तार दिया है। दण्डी ने भामह की वक्रोक्ति के स्थान पर अतिशय को अलंकार की आत्मा माना है।

"अलंकारान्तराणाामत्येकमाहु: परायणम।
वागीशमहितामुक्ति भिमाममतिशयाहायाम:॥"

परन्तु वास्तव में दोनों के आशय में केवल शब्द-भेद है। वक्रोक्ति से भामह का तात्पर्य भी अतिशय उक्ति से ही है। जैसा कि परवर्ती आचार्यों ने स्पष्ट किया है-"एव चातिशयोक्तिरित वक्रोक्तिति पर्याय इति बोध्यम" और दोनो का अर्थ है**: लोकोतर चमत्कार श्लोकोतरेण चौवातिशयरू अथवा अतिशयोक्तया विचित्रया भाव्यते।"**

दण्डी ने काव्यादर्श में रसीद को पृथक महत्व न देकर रसवत आदि अलंकारों में स्थान दिया है। इस प्रकार काव्य में अलंकार को ही श्रेष्ठ मानने वालों की परम्परा भामह और दण्डी के द्वारा आगे बढ़ी। दण्डी ने अलंकारों को इतना विशद विवेचन किया कि उसमें काव्य के अन्य गुण समाहित हो गये।

उन्होनें आठ रसों रीति गुण आदि तत्वों को भी रस में समाहित कर लिया लेकिन दण्डी और भामह के विवेचन में अन्तर रहा। दण्डी जहाँ अलंकारों का मुख्य केन्द्र अतिश्योक्ति को मानते हैं वहाँ भामह वक्रोक्ति को अलंकारों का आश्रम मानते थे। वस्तुत: दण्डी का विवेचन भी भामह की भांति काव्य के वाहय सौन्दर्य तक सीमित रह गया तथा काव्यात्मा तक नहीं पहुंची। वक्रोक्ति अथवा अतिशयता काव्य में चमत्कारोत्पादक हो सकती है। लेकिन उसके भाव तत्व के द्योतक नहीं। इस प्रश्न का समाधान दण्डी ने नहीं किया है। भामह की अपेक्षा दण्डी की दृष्टि अधिक उदार है। उन्होनें अलंकार के समकक्ष ही गुण और रीति का भी प्रतिष्ठान किया

आचार्य उद्भट: दण्डी के परवर्ती आचार्य उद्भट ने अलंकार सिद्धान्त की और भी अधिक श्रीवृद्धि की। उद्भट भामह के समर्थक आचार्य थे। उन्होनें काव्यालंकार सार संग्रह में भामह की पुव्याख्या प्रस्तुत की। उद्भट ने दृष्टान्त काव्यलिंग पुनरूक्त: वादाभास की उद्घभावना की है किन्तु अन्य दोषियों में वे थामह के समर्थक रहे है। उद्भव ने यथापि लक्षण-निरूपण आदि में भामह का ही अनुसरण किया है: "भामह विवरण" नाम से उसने भामह के सिद्धान्तों की व्याख्या की है परन्तु इसका विवेचना इतना सूक्ष्म और समृद्ध है कि उसने भामह को एक-एक प्रकार से आच्छादित कर लिया है। सभी परवर्ती आलंकारिकों ने मुक्तकण्ठ से उद्भव की महता को स्वीकार किया है। संक्षेप में उद्भट की देने इस प्रकार है।

उद्भट ने दृष्टान्त काव्यलिंग और पुनरूक्ति वेदाभास की सर्वथा नवीन उद्भावना की, अनुप्रास के प्रभेदों में वृद्धि की और इस प्रकार अलंकार की संख्या को ३क्र से ४१ तक पहुंचा दिया।

श्लेष के उसने दो भेद किए

(१) शब्द- श्लेष तथा (२) अर्थ श्लेष और दोनों को अर्थालंकार माना।

बाद में मम्मट आदि ने इसका निषेध किया है। व्याकरण के आश्रय से उपमा के अनेक प्रभेद, जिनका 'काव्य प्रकाशश् में वर्णन है, सबसे पूर्व उद्भट ने ही किए।

आचार्य रूद्रट काव्य में रस और अलंकार को पृथक मानकर अलंकार की श्रेष्ठता प्रतिपादित करने वाले आचार्य रूद्रट है। रूद्रट ने कहा है कि कवियों का पृथक कर्तव्य तो रसयुक्त सर्जना ही है किन्तु अलंकारों का भी वैशिष्ट्य उन्होने सिद्ध किया है। रूद्रट रस के समर्थक होते हुए भी अलंकारवादी ही थे। रूद्रट के उपरान्त रूय्यक, जयदेव, विद्याधर, अप्पय दीक्षित आदि अलंकारवदियों ने अलंकारों का विशद विवेचन किया है इनमें जयदेव ने काव्य में अलंकारों को महत्व दिया है कि:

अंगी करोति यः काव्यम् शब्दार्था वनलंकृती
असौ न मन्यतै कस्मादनुष्णामनलकुंती।

अर्थात जो व्यक्ति काव्य में शब्दार्थ मुक्त अलंकारों को नहीं मानता वह उसी प्रकार है जिस प्रकार कोई व्यक्ति अग्नि को उष्णता रहित माने। यद्यपि रूद्रट की दृष्टि व्यापक तथा उदार थी उसने महता स्वीकार करते हुए अपने समकालीन सिद्धान्तों का समन्वय भी किया फिर भी अलंकार शास्त्र ही उसका विशेष रूप से श्रेणी रहेगा। रूद्रट की देन इस प्रकार है।

(१) रूद्रट ने एक तो अलंकारों के सूक्ष्म भेद–प्रभेदों का स्पष्टीकरण करके उनकी संख्या का विस्तार ५. से ऊपर कर दिया।

(२) दूसरे वास्तव औपम्य, अतिशय और श्लेष के आधार पर उनका वैज्ञानिक वर्गीकरण किया। रूद्रट का यह वर्गीकरण सर्वथा मान्य न होते हुए भी अलंकार–शास्त्र के लिए मौलिक देन थी।

(३) रस और भाव अलंकार के अन्तर्गत मानने की जो त्रटि भामह के समय से बराबर होती आ रही थी। उसका संशोधन सबसे पूर्व रूद्रट ने ही किया। उसने रसवत आदि को अलंकार मानने से साफ इन्कार कर दिया

ओर इस प्रकार एक बहुत बडे भ्रम का निवारण किया। भामह से लेकर रूद्रट तक अलंकार सिद्धान्त का सुवर्ण काल रहा। अनेक प्रकार का मतभेद रखते हुए भी ये सभी आचार्य अलंकार को प्रधानता देते थे। भामह और दन्डी के गुण और अलंकार में कोई अन्तर नही मिला।

"उदभटादिभिस्त गुणालंकराणाम् प्रायश,
साम्यमेव सूचितम
तदेवमलंकारा एवं काव्ये प्रधानमिति
प्राच्यानां मतम"

रूद्रट के उपरान्त ध्वनि सम्प्रदाय का उदय हुआ, जिसने ध्वनि को काव्य की आत्मा मानते हुए अलंकार को निम्नतर स्थान दिया। जिस काव्य में शब्द–चित्र अथवा वाच्च चित्र रूप अलंकार ही हो, व्यंग्यार्थ ने हो, वह अधम माना गया। अलंकार रस और ध्वनि का सहायक होकर ही गौरव का अधिकारी हो सकता है।

वह न अपने आप स्वतन्त्र है और न काव्य का अनिवार्य अंग ही है।

अलंकारवादियों के समानान्तर रीति और वक्राक्तिवादी आचार्य भी आते हैं, जो परोक्षतरू अलंकारों को ही वैशिष्ट्य काव्य में स्वीकार करते हैं। रीतिवादी, आचार्य वामन ने रीति को काव्य की आत्मा माना है। उन्होने माधुर्यादि गुणों का काव्य का नित्य धर्म मानते हुए अलंकार की उनके विकास के लिए आवश्यक तत्व माना है। वामन के अनुसाररू काव्यम् ग्राहा अलंकारातश

अर्थात् काव्य अलंकार के कारण ही ग्राम होता है

आचार्य मम्मटः इसके विपरीत काव्यशास्त्र में एक परम्परा रसवादी रही है। जिसमें रस को ही काव्य

टिप्पणी

ही आत्मा माना गया है। इस परम्परा के आचार्यों ने काव्यात्मा को रस मानते हुए भी अलंकारों का विवेचन किया है। रसवादी आचार्यों में मम्मट ने अलंकारों को काव्य का अनित्य धर्म माना है तथा इसे रस का उपस्कारक सहायक तत्व कहा है। अलंकार वैसे ही है जैसे आभूषादि शरीर की शोभा बढ़ाते हैं किन्तु उससे की आत्मा प्रभावित नहीं होती। यदि अलंकारों का प्रयोग हो और रस का निषेध कर दिया जाय तो अलंकार उक्ति वैचित्रय काव्य रह जाते हैं।

इसलिए काव्य को निर्दोष गुण युक्त तथा अर्थावान होना चाहिए तथा कभी-कभी अलंकृत भी रह सकता हैं।

तददोषौ शब्दार्थौ सगुणाकालंकृती पुनः वन्वापिः

आगे चलकर आचार्य विश्वनाथ ने साहित्य दर्पध में पुनः इस प्रश्न को उठाया और उन्होने भी मम्मट की भाँति विश्लेषित किया। साहित्य दर्पण के अनुसार

शब्दार्श यरिस्थिरा में धर्माः शोभातिशयिनः ।
रसादी नुप कुर्वन्तीष्लंकाररास्तेष्ड्गदादिवत।

इस प्रकार इस मत की पूर्ण प्रतिष्ठा की मम्मट ने। मम्मट ने अलंकार को उचित गौरव दिया।

(१) उन्होने काल को सालंकार माना, परन्तु फिर भी अलंकृति पुनः च क्वापि कहकर उसकी अनिवार्यता का निषेध किया। मम्मट समन्वयवादी आचार्य थे, उन्होने प्राचीन सभी सिद्धान्तों की सम्यक परीक्षा करते हुए काव्य, पुरूष के रूपक के आधार पर उनका उचित समन्वय किया।

(२) उन्होने गुण और अलंकार का भेद स्पष्ट किया। गुणों को काव्य का साक्षात धर्म माना और अलंकारों को काव्य के अंगभूत शब्द और अर्थ को शोभाकारक धर्म माना

"उपकुर्वन्ति तं सन्तं येव्ड़गद्धारेण जातुचित ।
हारादिवदलकारास्तेष्नु प्रासोपमादयः ॥"

अलंकार काव्य के अंग अर्थात शब्दार्थ रूप शरीर की शोभा बढ़ाते हुए काव्य का उपकरण करते हैं - चमत्कृति में योग देते हैं। काव्य में उनका स्थान वही है जो मनुष्य के व्यक्तित्व में हर आदि आभूषण ों का और स्पष्ट रूप में शब्द तथा अर्थ काव्य के शरीर है और रसादिक आत्मा हैं। माधुर्यादि गुण शौर्यादि की भाँति श्रुति कटुव्वादि दोष काणत्वादि की तरह वैदर्भी आदि रीतियां अंग रचना के सदृश और उपमादिक अलंकार करक-कुण्डल आदि के तुल्य होते हैं।

अर्थात अलंकार काव्य के अस्थिर धर्म हैं। अलंकार के विवेचन में मम्मट ने भामह, दण्डी, उद्भट रूद्रट आदि पूर्वाचार्यों के मतों की परीक्षा करते हुए अनेक परिवर्तन और परिशोधन किए। अलंकारों की संख्या अब ७. हो गई। क्र शब्दालंकार और ६२ अर्थालंकार "इसमें अतदुण, माला-दीपक विनोक्ति, सामान्य और सम ये पांच अलंकार नवीन हे और सम्भवतः श्री मम्मट द्वारा आविण्कृत हैं।

मम्मट के उपरान्त रूप्यक ने 'अलंकारसर्वस्व' की रचना की। रूघ्यक ने विचित्र और विकल्प अलंकारों की सृष्टि की, परन्तु उसका प्रमुख कार्य था अलंकारों का वर्गीकरण। रूद्रट के वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष वर्गों को अपर्याप्त मानते हुए उसको निम्नलिखित वर्गो की उद्भावना की। सादृश्यगर्भ, विरोधगर्भ, श्रंखलाबद्ध न्यायमूल, गूढार्थ प्रतीतिमूल और संकर। स्वभावोक्ति भाविक और उदात को किसी वर्ग में रखकर स्वतन्त्र माना।

परवर्ती आचार्यों ने अलंकार-शास्त्र में कोई विशेष योग नहीं दिया। इसमें सन्देह नही कि जयदेव विद्याधर, अव्यय दीक्षित आदि पण्डितों ने एक बार फिर अलंकार सिद्धान्त का पुनरूत्थान करने का भरसक प्रयत्न किया।

"अंगीकरोति यय काव्यं शब्दार्थावनलंकृति
असौ न कन्यतै कस्मादनुष्णमनल कृती।।

की आह्वान ध्वनि के साथ अलंकार का जयघोष किया गया, परन्तु रस और ध्वनि की नींव इतनी गहरी जम गई थी कि वह फिर न हिल सकी। इसके उपरान्त अलंकार परम्परा हिन्दी कवियों के हाथ में चली गई। हिन्दी में भी यद्यपि आचार्य शिवदास ने कविता और वनिता के लिए अलंकार को अनिवार्य माना, तथा अन्य कवियों ने भी अपने लक्षणग्रन्थों: मे चन्द्रालोक आदि की शैली का भी अनुसरण किया परन्तु प्राधान्य रस का ही रहा।

भट्टिकाव्य: आचार्य भरत के नाट्शास्त्र के उपरान्त अलंकारों के वर्णन से सम्बन्धित भट्टिकाव्य मिलता है, जिसके दशम सर्ग में यमक अनुप्रास सहित ३क्र अलंकारों का उल्लेख है। आगे चलकर आचार्य भामह ने भी अलंकारों की संख्या ३क्र ही मानी है।

आचार्य मेद्याविन: भारतीय संस्कृत साहित्य में अलंकारों के विवेचन की परम्परा अति प्राचीन है। अलंकार सिद्धान्त के प्रवर्तक आचार्य भामह ने अपने पूर्व के अलंकारवादी मेद्याविन का उल्लेख बड़े आदर के साथ किया है। अनुमानतरू अलंकार परम्परा का विकास धीरे-धीरे तभी से हो रहा था। जब से आचार्यों ने भाषा की सूक्ष्म परीक्षा आरम्भ कर दी थी। आज मेद्याविन का नाम शेष है लेकिन उनहोने कितने अलंकारों का विवेचन किया है यह अज्ञात है।

पंडित जगन्नाथ: पंडित जगन्नाथ ने भी 'रस गंगाधर' में काव्यात्मा की व्यंजना में रमणीयार्थ लाने में अलंकारों को सहायक बताया गया है।

"काव्यात्मनो व्यंगस्य रमणीयता
प्रयोग जना अलंकारा:।।"

2.3 अन्य आचार्यो का मत

रसवादी चिन्तकों की भांति ध्वनिवादी विचारकों ने भी काव्य में अलंकारों की चर्चा की है। ध्वनि सम्प्रदाय के प्रवर्तक आनन्द वर्धन ने भावार्थ के दो भाग किये है।

वाच्य और प्रतीयमान उपमादि पोषित अर्थ को वाच्यार्थ तथा रमणी के शारीरिक अवयवों में भिन्न लावण्य की भांति तरल भाव को प्रतीयमान कहते हुए आनन्द वर्धन ने अलंकारों को प्रतीयमान अर्थ का अंग माना है।

प्रतीयमान पुनस्य देव वास्तवरिस्त वागीषु महाकवीनाम।
यतत प्रसिद्धावय वातिरिक्तं विभाति लावाभवांगनासु।।

वक्रोक्ति सम्प्रदाय और अलंकारों में पर्याप्त साम्य रहा है। इसलिए 'वक्रोक्तिजीवितम' के रचनाकार आचार्य कुन्तक के काव्य में अलंकारों को भामह की भाँति प्रतिष्ठित किया। कुन्तक ने केवल उपस्कारण न मानकर अलंकारों को स्वरूप्रघातक धर्म भी कहा है। उन्होनें अलंकारस्य काव्यस्य कहकर अलंकारों को काव्य का मुख्य अंग माना है। कुन्तक काव्य में अलंकार को अनिवार्य मानते हुए भी उसका पृथक विवेचन करते हैं और उसका औचित्य स्पष्ट करते हुए बतलाते हैं कि काव्य में शोभाकारक होने पर भी इनका अत्यन्त वैशिष्ट भी होता है।

अलंकृतिरलंकार्यामेयोह घृष्य विवेच्यते।
तदुपायतहा तत्वं अलंकारस्य काव्यता।।

टिप्पणी

क्षेमेन्द्रः औचित्य सम्प्रदाय के समर्थक क्षेमेन्द्र ने काव्य में अलंकारों का औचित्य भी स्वीकार किया है और यह स्पष्ट है कि काव्य भारती के पीनस्तनों पर हार से सुसज्जित रमणी की भांति अलंकार भी प्रयुक्त होते

अथौचित्यवता सूक्तिरलंकारेण शोभते ।
पीनस्तन स्थितेनेव हरिणः हरिणेक्षणा।।

संस्कृत काव्याशास्त्र की भांति उत्तर मध्य काल में रीति काव्य परम्परा के आचार्यों ने भी अलंकार का विशद विवेचन किया है। रीति काल की प्रमुख विशेषता यही रही है। रीतिकाल के प्रर्वतक आचार्य केशव ने तो अलंकार के महत्व को निम्न प्रकार से घोषित किया है।

"जदपि सुजाति सुलच्छनी, सुवरन सरस सुवृत
भूषण बिनु न विराजही कविता वनिता मित।।

रीति काल तक आते-आते काव्य सम्प्रदायों में संस्कृत के विभिन्न सम्प्रदायों के स्थान पर रस और अलंकार ही रह गये। इसमें भी हिन्दी में रसवादी परम्परा का ही विकास अधिक हुआ तथापि अलंकारों का विवेचन भी कम हुआ और अनेक आचार्यों के काव्य अलंकारों का ही विवेचन किया। भक्ति काल में मुख्यतरू भाव प्रवण काव्य चेतना रही तथा शास्त्रीय चिन्तन नही हुआ फिर भी यत्र-तंत्र विवेचना मिल जाती है।

इस दृष्टि से तुलसीदास का अर्थकाव्य उल्लेखनीय है। जिन्होनें काव्य में अलंकारों को मान्य सहायक तत्व माना है।

हिन्दी के आचार्यः रीतिकाल में आचार्यो के तीन वर्ग हो गये हैं। प्रथम वर्ग में वे आचार्य आते हैं। जिन्होंने समस्त काव्याशास्त्र का विवेचन किया है। दूसरे वर्ग में वे आचार्य आते हैं जो रसवादी है और तीसरे वर्ग में मात्र अलंकारवादी।

सर्वाड.निरूपक आचार्या में केशवदास, चिन्तामणि,
कुलपति, देव, सूरति मिश्र, कुमारमणि, श्रीपति, सोमनाथ।।

भिखारीदास और प्रताप साहि उल्लेखनीय है जबकि अलंकारवादी आचार्यों के अनेक वर्ग हो गये है। प्रथम कोटि में वे आचार्य है जिन्होनें व्यास शैली में अलंकारो का विवेचन किया है।

जैसे-मतिराम, दूलह, भूषण और रघुनाथ तथा दूसरे समास शैली के आचार्य जसवंत सिंह, पद्याकर, गोविन्द कवि करनेस और राम सिंह। रीतिकाल में काव्य वैशिष्टय की दृष्टि से रस ओर अलंकार में विवाद रहा है और अंलकारवादी आचार्यों ने अलंकार को काव्य का मुख्य तत्व माना है।

आचार्य केशवदास के अनुसार -

जदपि सुजाति सुलच्छनी सुवरन सरस सुवृत।
भूषण बिनु न विराजही कविता बनिता मित।।

आचार्य श्रीपति मिश्र वे भी इसी अवधारणा की पुष्टि अपनी विवेचना में की है और अलंकार की वरीयता दी है।

श्रीपति के अनुसार

जदपि दोष बिनु गुण सहित सबतन परम अनूप।
तदपि न भूषण बिनू लसै कविता बनिता रूप।।

2.4 अलंकार का स्वरूप

रीतिकाल में अलंकारों के स्वरूप और प्रयोजन के संदर्भ में जो मान्यताएं प्रतिपादित की गई उनमें भिखारीदास और श्रीपति जैसे कुछ प्रतिभाशाली कवियों के अतिरिक्त अन्य कवियों के विवेचन सामान्यतरू संस्कृत काव्य परम्परा की अनुकृति मात्र रहे और कही–कही तो सीधे अनुवाद कर दिये गये। जैसे मुरारीदीप के जसवंत जसो भूषण ने कहा है।

वेद व्यास भगवान ने परतछ कहौ पुकार।
कवि वानी भूषण बिना विधवा जैसी नार।।

हिन्दी में कुलपति मिश्र, सोमदेव, देव, पद, मनुदास, सूरति मिश्र और गोकुलदास तथा आधुनिक काल में जगन्नाथ प्रसाद 'भानुश् और लाला भगवान दीप आदि ने अलंकार की विवेचना, रसवादी परम्परा के अन्तर्गत काव्य शरीर के रूप में किया है तथा रस को काव्य की आत्मा के रूप में स्वीकार किया है

देव के अनुसारः

कविता कामिनी सुखद प्रद, सुवरन सरस सुहाति।
अलंकार नाहिरे अधिक, अद्भुत रूप लखाति।।

लाला भगवानदीप ने भी इसे काव्य में चमत्कार प्रदायक माना है "किसी काव्य के वर्णन करने का चमत्कारिक ढंग अलंकार कहलाता है। दूसरे शब्दों में कहिए कि जिस सामग्री से किसी काव्य में रोचकता या चमत्कार आ जाय, वह सामग्री अलंकार कहलाती हैं।"

नये समीक्षकों में भी अलंकार के विषय में पर्याप्त विचार हुआ है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अलंकार को दो रूपों में लिया है। वस्तु या व्यापार की भावना को चटकीली करने वाला और भाव को अधिक उत्कर्ष देने वाला। शुक्ल जी ने भिन्न–भिन्न विधान और कथन के ढंग को अलंकार माना है तथा रसवादी होने के कारण, केवल वर्णन प्रणाली के रूप में अलंकार को स्वीकार किया है।

चिन्तामणि में वे कहते हैं: मैं अलंकार को केवल वर्णन प्रणाली मानता हूँ जिसके अन्तर्गत चाहे किसी भी वस्तु का वर्णन किया जा सकता है। वस्तु निर्देश अलंकार का काव्य नहीं है।

डा. नगेन्द्र ने अलंकार को काव्य की शोभा का साधन मात्र कहा है। डा. रामकुमार वर्मा का मत है – वस्तुतः अलंकारों का प्रभाव भाषा और भावों का सौन्दर्य दृष्टि से संचय करने में तथा उनके द्वारा जीवन का कार्य व्यपारों को आकर्षक बनाने में है। इन प्रयोगों को इसी लिए अलंकार नाम दिया गया है कि उनसे भाषा एवं भावों की नग्नता दूर होकर उनमें सुषमा और सौन्दर्य की सृष्टि होती है। ऋऋऋइस प्रकार हिन्दी काव्यशास्त्र में अलंकारों का विवेचन भी विस्तार से हुआ है परन्तु अधिकांशतरू संस्कृत काव्य परम्परा का अनुपालन मात्र हुआ है। नई समीक्षा में इसे शैली के साथ जोड़कर विस्तारित अवश्य किया गया है इस नये विस्तार का कारण पाश्चात्य प्रभाव है। इसलिए पाश्चात्य साहित्य में भी अलंकार सम्बन्धी चिन्तना विचारणीय है। कीचे ने वस्तु और अलंकार को भिन्न न मानकर लिखा है।

व्दम बंद ेा वदमेमर्स ाीवू ंद वतदंउमदज बंद इम रवपदमक जव मगचतमेपवद, मगजमतदंससल. प्द जींज बेंम पज उनेज ंसूंले तमउंपद तमवतंजम पदजमतदंससल? प्द जींज बेंम मपजीमत पज कवमे दवज ेपेज मगचतमेपवद ंदक उंते पज वत पज कवमे दवज तिउ चंतज व्रि पज ंद पे दवत ंदक वतदंउमदज इनज ं बवदेजपजनमदज मसमउमदज व्रि मगचतमेपवद पदकपवजपदह उपेजंइसम मितवततवू जीम ूवसमण

वस्तुतः काव्य में वाणी और अर्थ की संहिति को काव्य तत्व की अनिवार्यता के रूप में स्वीकार करने का परम्परा कालिदास से प्रारम्भ हुई और इसे शिवशक्ति के रूप में माना है। गोस्वामी तुलसीदास ने जल और लहर की भांति इसे निरूपति किया है।

टिप्पणी

गिरा अर्थ जल वीचि सम
कहियत भिन्न न भिन्न

इस प्रकार की संहिति में सौन्दर्यादिभावक तत्व अलंकार होते हैं। इस प्रकार कविता कामिनी के सभार बनकर उसकी अर्थवता में चमत्कार उत्पन्न करते हैं। वाणी एवं अर्थ का समन्वय वक्रता मूलक अभिव्यक्ति में सन्निहित है।

कालिदास नेकृवागर्थाविव संपृक्तौवागर्था प्रतिपतये
कहकर रघुवंश महाकाव्य में निरूपित किया है।

आचार्य भामह – ने भी समन्वय जन्य वक्रता को अलंकार माना है। अलंकार रमणीयार्थ के प्रतिपादक है सौन्दर्य चेता कवि रमणीयार्थ प्रतिपादन के **लिए कल्पना प्रस्तुत तथा सादृश्याश्रित अप्रस्तुती का चयन करता है और अभिव्यंजनो को सशक्त करता है।**

2.5 अलंकार का विकास

साहित्यशास्त्र में रस सम्प्रदाय के सर्वाधिक सशक्त प्रतिस्पर्धी के रूप में अलंकार का विकास हुआ है। अलंकारवादियों के अतिरिक्त रस और ध्वनिवादियों ने भी अलंकारों के वैशिष्ट्य और उनके प्रयोग वैशिष्टय का विशेष विवेचन भी आनुंगिक रूप में होता रहा है। इनके द्वारा सौन्दर्यानुभति सम्बन्धी सम्बन्धी संकल्पनाओं का प्रत्यक्षीकरण होता है। वस्तु स्वतः प्रभावशाली तत्व नही है। किन्तु कवि भावना की उत्कृष्टता के लिए विशिष्ट क्षेत्रों में अप्रस्तुती का चयन करके अलंकार में सौन्दर्य का आरोपण करता है। और शैल्पिक सजगता के कारण सम्महिक प्रभविष्णुता प्रयास करता है।

जब काव्य में प्रस्तुत का विशदीकरण होगा तभी उसका सामान्यीकरण भी संभव है। इस दृष्टि से अप्रस्तुत उसके मुख्य अंग बन जाते हैं। इसलिए उसका विशेष महत्व होता है। आचार्य शुक्ल के अनुसारप्रस्तुत के अतिरिक्त जो कुछ रूप विधान होगा, वह केवल अलंकारवादी होगा।

जब काव्य में कोई प्रस्तुत अवयव होगा आवश्यक ठहरा तब उसके अरिरिक्त और जो कुछ रूप होगा, वह अप्रस्तुत विधान होगा। यह सामग्री अभिव्यंजना है, मात्र उपमान नही। डा. नागेनद्र–ने भी अप्रस्तुत को विशेष महत्व देते हुए कहा है–ये नाम निरपेक्ष नही है किन्तु स्वरूप भेद के लिए उनकी उपयोगिता है। उसी सीमा तक मूल रूप में असत्यभूत होने पर भी व्यवहार में वे मान्य है। दोनों तत्वतः एक है, परन्तु प्रत्यक्षत दो ही है। व्यवहार रूप के इस भेद को अमंगल कहकर उड़ा देने से समस्त शास्त्र विवेचन व्यर्थ हो जाता है। अलंकार शास्त्र ही नही दर्शन शास्त्र रूपी अस्तित्व नही रह जाता है।

इधर नयी कविता के आगमन से परम्परा के प्रति विद्रोह – भावना बलवती हुई है परन्तु प्रयोगशील कवियों में भी यदि शिल्प के प्रति अधिक सजगता विद्यमान रही है। अज्ञेय का मत है – शिल्प इतना नाकाम नही है कि वस्तु से रूपाकार को बिल्कुल अलग नही किया जा सकता, कि दोनों का सामंजस्य अधिक समर्थ और प्रभावशाली होता है और इसी अनुभव के कारण धीरे–धीरे वह भी मानो पिछवाड़े से आकर शिल्पागुड़ी वर्ग में मिलता है।

वस्तुतः नये आन्दोलन की भाषा और भाव को एक रूप करने के लिए अलंकारो का विरोध नही करते। यह अवश्य है कि नये प्रयोग उपकरणों के चयन क्षेत्र का विस्तार करके नये प्रतीकों और विम्बों की आयोजना में चयन क्षेत्र का विस्तार देने और रूढ़ प्रतीकों को त्यागने में आगे रहे है।

डा. रामस्वरूप चर्तुवेदी का स्पष्ट मत है–

कविता की नई भाव धारा से प्रेरित होने पर भी तोड़ा प्राय: शिल्प के माध्यम से जाता है। डा. नरेन्द्र मोहन ने इसकी व्याख्या करते हुए लिखा है

"प्रयोगशील कविता में भी रूढ़ सौन्दर्य दृष्टि को मांगने के लिए, उसका नव संस्कार करने के लिए और नयी सौन्दर्य चेतना के उन्मेष के लिए बंधे हुए शिल्प को तोड़ने के लिए नयी शिल्प दृष्टि पर बल दिया गया हैं।"

2.6 अलंकारो के भेद व वर्गीकरण

वर्गीकरण: अलंकारो के स्वरूप वैशिष्टय का विभावात्मक अनुशीलन करने के उपरान्त उनके वर्गीकरण का उल्लेख समीचीन प्रतीत होता है। संस्कृत के आचार्य भरत ने यमक को शब्दाभ्यास कहा है तथा काव्य शास्त्र में मात्र चार अलंकारों का उल्लेख किया है।

आचार्य भामह ने पूर्ववर्ती आचार्यो के वर्गीकरण को शब्दालंकार और अर्थालंकार दो रूपों में वर्गीकृत किया है। भामह ने अलंकारों को भी परिच्छेदों में विभाजित किया है। भामह दण्डी और उद्‌भट ने शब्दांकार और अर्थालंकार को काव्य कोटियों में नही बांटा है वरन एक साथ उनका विवेचन किया है। वामन को पुन: शब्दगत अलंकार अर्थगत अलंकार कहकर उन्हें पृथक किया है। आनन्द वर्धन अलंकारों को चित्र काव्य में रखते हैं और शब्द में अलंकारिता को शब्द चित्र तथा अर्थ में वाच्य चित्र का संकेत देते हैं।

(१) शब्दालंकार (२) अर्थालंकार (३) शब्दार्थालंकार

आगे चलकर सरस्वती कठांभरण में भी वाह्य तत्व को शब्दालंकार अभ्यन्तर तत्व को अर्थालंकार और बाहाभ्युन्तर को शब्दालंकार कहकर भोजराज ने अग्निपुराणकार के मत की पुष्टि की है। आचार्य मम्मट इस विवेचन के नाम परिवर्तित करते हुए अन्वय व्यतिरेक भाव से शब्दालंकार अर्थालंकार और उभयालंकार तीन नाम देते हैं। उनके अनुसार यदि शब्द विशेष के रहने से अलंकार की विद्या मानता है तो वे शब्दालंकार है। किन्तु यदि शब्द परिवर्तन में भी अलंकार बना रहे तो वह अर्थालंकार है। रूय्यक ने इसे आश्रयाश्रयिभाव कहा है तथा स्पष्ट किया है, जो अलंकार शब्द पर आश्रित है तो वह शब्दालंकार और यदि वह अर्थ पर आश्रित है तो वह अर्थालंकार।

जैसे कंटक हाथ का अलंकार है क्योकि वह हाथ पर आश्रित होता है। अनेक परिवर्तन से अलंकारत्व श्रेष्ठ नही होता। इन विवेचनों से अलंकारों की प्रयोग विधि में चाहे परिवर्तन हुआ ही पर अलंकारों के तीन, वर्गीकरण ही मान्य रहे है। शब्दालंकार, अर्थालंकार तथा उभयालंकार।

2.7 अलंकार के भेद

हिन्दी में भी यह विवेचन चलता रहा तथा अधिकांश विद्वानों ने केवल दो भेद माने है। साहित्य में शब्द और अर्थ दोनों का महत्व होता है। कहीं शब्द प्रयोग से तथा कही अर्थ चमत्कार से काव्य में सौन्दर्य की वृद्धि होती है। इसी आधार पर अलंकार के मुख्य दो भेद माने जाते हैं।

१. शब्दालंकार

२. अर्थालंकार

शब्दालंकार: जब कुछ विशेष शब्दों के कारण काव्य में चमत्कार उत्पन्न होता है तो वह शब्दालंकार कहलाता है। यदि इन शब्दों के स्थान पर उनके ही अर्थ को व्यक्त करने वाला कोई दूसरा शब्द रख दिया जाए तो वहां चमत्कार समाप्त हो जाता है।

टिप्पणी

उदाहरणार्थः

कनक कनक ते सौ गुनी, मादकता अधिकाय।
वा खाए बौराय जंग या पाए ही बौराय।।

यहाँ कनक शब्द के कारण जो चमत्कार है, वह पर्यायवाची शब्द रखते ही समाप्त हो जाएगा।

अर्थालंकारः जहाँ काव्य में अर्थगत चमत्कार होता है, वहां अर्थालंकार माना जाता है। इस अलंकार पर आधारित शब्दों के स्थान पर उनका कोई पर्यायवाची रख देने से भी अर्थगत सौन्दर्य में कोई अन्तर नहीं पड़ता।

उदाहरणार्थः

चरण-कमल बन्दौ हरिराइ।।

यहाँ पर कमल के स्थान पर जलज रखने पर भी अर्थगत सौन्दर्य में कोई अन्तर नहीं पड़ेगा।

1. **शब्दालंकार**

अनुप्रास

वर्णो की आवृत्ति को 'अनुप्रास' कहते हैंय अर्थात् "जहां समान वर्णो की बार-बार आवृत्ति होती है वहाँ **अनुप्रास अलंकार** होता हैं।"

अन्य शब्दों में जिस रचना में व्यंजन वर्णो की आवृत्ति एक या दो से अधिक बार होती है वहाँ अनुप्रास अलंकार होता है।

उदाहरणः

(क) तरनि-तनुजा तट तमाल तरूवर बहु छाए।

(ख) रघुपति राधव राजा राम।

स्पष्टीकरणः उपर्युक्त उदाहरणे के अन्तर्गत प्रथम में 'त' तथा द्वितीय मे 'र' वर्ण की आवृत्ति के कारण अनुप्रास अलंकार है।

अनुप्रास के भेद

अनुप्रास अलंकार के पाँच भेद होते हैं:

(१) छेकानुप्रास (२) वृत्यनुप्रास (३) शृत्यनुप्रास (४) लाटानुप्रास (५) अन्त्यानुप्रास। इन भेदो का संक्षिप्त विवेचन इस प्रकार है:

(1) छेकानुप्रासः जब एक या अनेक वर्णो की आवृत्ति एक बार होती है, तब छेकानुप्रास अलंकार होता है।

उदाहरणः (क) कहत कत परदेसी की बात।

(ख) पीरी परी देह, छीनी राजत स्नेह भीनी।

स्पष्टीकरणः उर्पयुक्त उदाहरणों में प्रथम में श्कश् वर्ण की तथा द्वितीय में श्पश् वर्ण की आवृत्ति एक बार हुई है, अतरू यहां 'छेकानुप्रास अलंकार' है।

(2) वृत्यनुप्रासः जहाँ एक वर्ण की अनेक बार आवृत्ति हो, वहाँ 'वृत्यनुप्रास' अलंकार होता है।

उदाहरणः (क) तरनि-तनुजा तट तमाल तरूवर बहु छाए।

(ख) रघुपति राधव राजा राम।

(ग) कारी कूर कोकिल कहाँ का बैर काढ़ति री।

स्पष्टीकरण: उपर्युक्त उदाहरणे में प्रथम में 'त' वर्ण की द्वितीय में 'र' वर्ण की तथा तृतीय उदाहरण में श्कश् वर्ण की अनेक बार आवृत्ति हुई है, अत: यहाँ 'प्रत्यनुप्रास अलंकार' है।

(3) श्रुत्यनुप्रास: जब कण्ठ, ताल, दन्त आदि किसी एक ही स्थान से उच्चरित होने वाले वर्णो की आवृत्ति होती है, तब वहाँ 'श्रुत्यनुप्रास' अलंकार होता है।

उदाहरण:

तुलसीदास सीदत निसिदन, देखत तुम्हारि निठुराई।

स्पष्टीकरण: उपर्युक्त उदाहरण में दन्त्य वर्णो त, द, कण्ठ वर्ण, र, तथा तालू, वर्ण न की आवृत्ति हुई हैय अत: यहाँ 'श्रुत्यनुप्रास' अलंकार है।

(4) लाटानुप्रास: जहाँ शब्द और अर्थ की आवृत्ति हो, अर्थात् जहाँ एकार्थक शब्दों की आवृत्ति तो हो, परन्तु अन्वय करने पर अर्थ भिन्न हो जाए, वहाँ लाटानुप्रास अलंकार होता है।

उदाहरण:

पूत सपूत तो क्यों धन संचे।
पूत कपूत तो क्यों धन संच॥

स्पष्टीकरण: यहाँ एक ही अर्थ वाले शब्द की आवृत्ति हो रही है किन्तु अन्वय के कारण अर्थ बदल रहा है।

जैसे - पुत्र यदि सपूत हो तो धन संचय की कोई आवश्यकता नहीं होती क्योंकि वह स्वयं ही कमा लेगा और यदि पुत्र कपूत है तो भी धन संचय की आवश्यकता नहीं क्योंकि वह सारे धन को नष्ट कर देगा।

(5) अन्त्यानुप्रास: जब छन्द के शब्दों के अन्त में समान स्वर या व्यंजन की आवृत्ति हो, वहाँ 'अन्त्यानुप्रास' अलंकार होता है।

उदाहरण:

कहत नटत रीझत खिझत,
मिलत खिलत लजियात।
भरे मौवे में, करतु है,
नैननु ही सौ बात।

स्पष्टीकरण: उपर्युक्त उदाहरण में छन्द के शब्दों के अन्त मे 'त' व्यंजन की आवृत्ति हुई है, अत: यहाँ 'अन्त्यानुप्रास' अलंकार है।

2. यमक अलंकार

परिभाषा: 'यमक' का अर्थ है- 'युग्म' या 'जोड़ा'। इस प्रकार "जहाँ एक शब्द अथवा शब्द-समूह का एक से अधिक बार प्रयोग हो, किन्तु उसका अर्थ प्रत्येक बार भिन्न हो, वहाँ 'यमकश् अलंकार होता ह।"

अन्य शब्दों में: "वहै शब्द पुनि-पुनि परै अर्थ भिन्न ही भिन्न।"

टिप्पणी

अर्थात् तब कविता में एक ही शब्द दो या दो से अधिक बार आए और अर्थ हर बार भिन्न हो वहाँ यमक अलंकार होता है।

उदाहरण -

ऊँचे घोर मंदर के अंदर रहनवारी,
ऊँचे घोर मंदर के अंदर रहाती है।

स्पष्टीकरण: उपर्युक्त उदाहरण में "ऊँचे घोर मंदरश" के दो भिन्न-भिन्न अर्थ है- 'महल' और पर्वत कन्दराएँ: अत: यहाँ 'यमकश् अलंकार है।

अन्य उदाहरण:

(१) काली घटा का घमण्ड घटा।

यहाँ घटा शब्द की आवृत्ति भिन्न-भिन्न अर्थ में हुई है। घटा-वर्षा काल में आकाश में उमड़ने वाली मेघमाला। घटा-कम हुआ।

(२) कहे कवि बेनी बेनी त्याल की चुराई लीनी।

इस पंक्ति में बेनी शब्द का भिन्न-भिन्न अर्थो में आवृत्ति प्रयोग हुआ है। प्रथम बेनी शब्द कवि का नाम है और दूसरा बेनी (वेणी) चोटी के अर्थ **में प्रयुक्त हुआ है।**

3. श्लेष अलंकार

परिभाषा: जिस शब्द के एक से अधिक अर्थ होते हैं उसे 'श्लिष्ट' कहते हैं। इस प्रकार "जहाँ किसी शब्द के एक बार प्रयुक्त होने पर एक से अधिक अर्थ होते हो, वहाँ श्लेष अलंकार होता है।

'श्लेष शब्द का अर्थ चिपकाना है"

दूसरे शब्दों में: श्लेष की परिभाषा करते हुए कह सकते हैं कि जहाँ एक शब्द से दो अर्थ चिपके हो वहाँ श्लेष अलंकार होता है। अत: जहाँ किसी शब्द का अधिक अर्थ में एक बार प्रयोग हो वहाँ श्लेष अलंकार होता है।

उदाहरण:

रहिमन पानी राखिए, बिन पानी सून।
पानी गए न उबरे, मोती, मानुष चून॥

स्पष्टीकरण: उपर्युक्त उदाहरण में तीसरी बार प्रयुक्त 'पानी' शब्द श्लिष्ट है और यहाँ इसके तीन अर्थ है- चमक (मोती के पक्ष में) प्रतिष्ठा (मनुष्य के पक्ष में) तथा जल (आटे के पक्ष में)य अत: यहाँ श्लेष अलंकार है।

उदाहरण:

(१) मधुवन की छाती को देखों

सूखी कितनी इसकी कलियाँ

यहाँ कलियाँ शब्द का प्रयोग एक बार हुआ है, किन्तु इसमें अर्थ की भिन्नता है।

कलियाँ-खिलने से पूर्व फूल की दशा।

कलियाँ-यौवन पूर्व की अवस्था।

(२) रहिमन जो गति दीप की कुल कपूत गति सोय।

बारे उजियाते लगै बढ़े अँधेरो होय।।

यहाँ बारे और बढ़े शब्दों में श्लेष अलंकार है।

2. अर्थालंकार

(१) उपमा अलंकार:

परिभाषा: उपमा का अर्थ – सादृश्य, समानता तथा तुल्यता। "जहाँ पर उपमेय की उपमान से किसी समान धर्म के आधार पर समानता या तुलना ही जाए, वहाँ उपमा अलंकार होता है।"

अन्य शब्दों में: जहाँ पर किसी वस्तु या व्यक्ति की (उपमेय की) किसी अन्य व्यक्ति या वस्तु से (उपमान से) किसी समान धर्म, गुण आदि के आधार पर समानता बताई जाए वहाँ "उपमा अलंकार'' होता है।

जहाँ एक वस्तु या प्राणी की तुलना अत्यंत सादृश्य के कारण प्रसिद्ध वस्तु या प्राणी से की जाए, वहाँ उपमा अलंकार होता है।

उपमा अलंकार के अंग: उपमा अलंकार के चार अंग है

(१) उपमेय (२) उपमान (३) साधारण धर्म (४) वाचक शब्द

(1) उपमेय: यह वस्तु या प्राणी जिसकी उपमा दी जाए अथवा काव्य में वर्णन अपेक्षित हो। उपमा (तुलना) करने योग्य होने से उपमेय कहते हैं। इसे प्रस्तुत या वर्ण्य भी कहते हैं।

उदाहरण – चन्द्रमा के समान सुन्दर मुख। इस वाक्य में मुख उपमेय है।

(2) उपमान: वह प्रसिद्ध वस्तु या प्राणी जिसके साथ उपमेय की तुलना की जाए, उपमान कहलाता है। उसे अप्रस्तुत या अवर्ण्य भी कहते हैं।

उदाहरण – चन्द्रमा क समान सुन्दर मुख। उपर्युक्त उदाहरण में चन्द्रमा उपमान है।

(3) साधारण धर्म: उपमेय तथा उपमान में पाया जाने वाला परस्पर समान गुण साधारण धर्म कहलाता हैं।

उदाहरण – चन्द्रमा के समान सुन्दर मुख।

प्रस्तुत उदाहरण में सुन्दर शब्द साधारण धर्म है।

(4) वाचक शब्द: वे शब्द जो उपमेय और अपमान में पाए जाने वाले गुण को प्रकट करते हैं। ज्यो, जैसा, सम, तुल्य, सा, सी, सरिस आदि शब्द वाचक शब्द कहलाते हैं।

उदाहरण – चन्द्रमा के समान सुन्दर मुख।

उपरिलिखित उदाहरण में समान वाचक शब्द है। उपमा अलंकार के भेद

उपमा अलंकार के प्राय: चार भेद किए जाते हैं।

(१) पूर्णोपमा

(२) लुप्तोपमा

(३) रसनोपमा

टिप्पणी

(४) मालोपमा

इनका संक्षिप्त विवेचन निम्नलिखित है

(1) पूर्णोपमाः पूर्णोपमा अलंकार में उपमा के चारों अंग उपमान, उपमेय साधारण धर्म और वाचक शब्द स्पष्ट रूप से निर्दिष्ट होते हैं।

उदाहरणः पीपर पात सरिस मन डोला।

स्पष्टीकरणः उपर्युक्त उदाहरण में उपमा के चारों अंग उपमान (पीपर पात), उपमेय (मन), साधारण धर्म (डोला) तथा वाचक शब्द (सम) स्पष्ट रूप से निर्दिष्ट है, अतः यहाँ 'पूर्णोपमा' अलंकार है।

उदाहरणः

हाय फूल-सी कोमल बच्ची
हुई राख की थी ढेरी॥

स्पष्टीकरणः यहाँ 'फूल' उपमेय 'बच्ची' उपमान, 'कोमल' साधारण धर्म है अतः पूर्णपमा अलंकार है।

(2) लुप्तोपमाः 'उपमेय, उपमान, साधारण धर्म तथा वाचक शब्द में से किस एक या अनेक अंगो के लुप्त होने पर 'लुप्तोपमा' अलंकार होता है। "लुप्तोपमा अलंकार में उपमा के तीन अंगो तक के लोप की कल्पना की गई है।

उदाहरणः नील सरोरूह स्याम तरून अरून बारिज नयन।

स्पष्टीकरणः उपर्युक्त उदाहरण में 'नयन' उपमेय, 'सरोरूह' और बारिज' उपमान तथा 'नील और अरूण' साधारण धर्म है। 'समान' आदिवाच शब्द का लोप हुआ है, अतः यहाँ लुप्तोपमा अलंकार है।

उदाहरणः

यह देखिए, अरविंद से शिशुवृंद कैसे सो रहे।

यहाँ अरविंद से शिशुवृंद में साधारण धर्म नहीं है। अतः यहाँ लुप्तोपमा अलंकार है।

(3) रसनोपमाः जिस प्रकार एक कडी दूसरी कड़ी से क्रमशः जुडी रहती है, उसी प्रकार 'रसनोपमाश् अलंकार में उपमेय-उपमान एक-दूसरे से जुड़े रहते हैं।

उदाहरणः

सगुन ज्ञान सम उद्यम, उद्यम सम फल जान।

फल समान पुनि दान है, दान सिरस सनमान॥ स्पष्टीकरणः उपर्युक्त उदाहरण में 'उद्यम', 'फल', 'दान' और 'सनमान' उपमेय अपने उपमानों के साथ श्रृंखलाबद्ध रूप में प्रस्तुत किए हैय अतः यहाँ 'रसनोपमा' अलंकार है।

(4) मालोपमाः मालोपमा का तात्पर्य है-माला के रूप में उपमानों की श्रृंखला। "एक ही उपमेय के लिए जब अनेक उपमानों का गुम्फन किया जाता है, तब 'मालोपमा' अलंकार होता है।

उदाहरणः

पछतावे की परछौही-सी,
तुम उदास छाई हो कौन?
दुर्बलता की अंगडाई-सी,

अपराधी-सी भय से मौन।स्पष्टीकरणः उपर्युक्त उदाहरण में एक उपमेय के लिए अनेक उपमान प्रस्तुत किए गए हैं, अतः यहाँ 'मालोपमा' अलंकार है।

(3) रूपक अलंकार

परिभाषाः "जहाँ उपमेय में उपमान का भेदरहित आरोप हो, वहाँ रूपक अलंकार होता है। 'रूपक' अलंकार में उपमेय और उपमान में भेद नहीं रहता।

अन्य शब्दों में

"जहाँ गुण की अत्यंत समानता के कारण उपमेय में उपमान का अभेद आरोपण हो वहाँ रूपक अलंकार होता है।"

उदाहरण -

ओ चिंता की पहली रेखा,
अरे विश्व-वन की त्याली।
ज्वालामुखी स्फोट के भीषण,
प्रथम कम्प-सी मतवाली।

स्पष्टीकरण - उपर्युक्त उदाहरण में चिन्ता उपमेय में विश्व-वन की त्याली आदि उपमानों का आरोप किया गया है, अतः यहाँ 'रूपक' अलंकार है।

अन्य शब्दों मेंः

(1) चरण-कमल बंदी हरिराई

स्पष्टीकरणः यहाँ हरि के चरणों (उपमेय) में कमल (उपमान) का आरोप हुआ है।

(2) मैया मै तो चंद्र खिलौना लैहों।

स्ष्टीकरणः यहाँ चन्द्रमा में खिलौना (उपमान) का आरोप होने से रूपक अलंकार है।

रूपक के भेद -

आचार्यों ने रूपक के अनगिनत भेद उपभेद किए है, किन्तु इसके तीन भेद इस प्रकार हैः

(१) सांगरूपक

(२) निरंग रूपक

(३) परम्परित रूपक

इनका संक्षिप्त विवेचन इस प्रकार है

(1) सांगरूपक - जहाँ अवयवों सहित उपमान का आरोप है, वहाँ सांगरूपक अलंकार होता है।

उदाहरण -

रनित भंग-घंटावली, झरति दान मधु-नीर।
मंद-मंद आवत चल्यौ, कुंजर-समीर॥

स्पष्टीकरण - उपर्युक्त उदाहरण में समीर में हाथी का, भृग में घण्टे का और मकरन्द में दान (मद-जल) का आरोप किया गया है। इस प्रकार वायु के अवयवों पर आरोप होने के कारण यहाँ सांगरूपक अलंकार है।

(2) निरंग रूपक - जहाँ अवयवों से रहित केवल उपमेय पर उपमान का अभेद आरोप होता है, वहाँ निरंग रूपक अलंकार होता है।

उदाहरण -

इस ह्रदय कमल का घिरना,
अति-अलकों की उलझन में।
आसू मरन्द का गिरना,
मिलना निरूश्वास पवन में।

स्पष्टीकरण - उपर्युक्त उदारण में ह्रदय (उपमेय) पर कमल (उपमान) का अलको (उपमेय) पर अति (उपमान) काय आँसू (उपमेय) पर मरन्द (उपमान) का तथा निरूश्वास (उपमेय) पर पवन (उपमान) का आरोप किया गया है, अतः यहाँ 'निरंग रूपक' अलंकार है।

(3) परम्परित रूपक - जहाँ उपमेय पर एक आरोप दूसरे आरोप का कारण होता है, वहाँ पर 'परम्परित रूपक' अलंकार है।

(4) उत्प्रेक्षा अलंकार

परिभाषा - "जहाँ उपमेय में उपमान की सम्भावना की जाती है वहाँ 'उत्प्रेक्षा अलंकार' होता है।श्श् या जहाँ समानता के कारण उपमेय में संभावना या कल्पना की जाए वहाँ उत्प्रेक्षा अलंकार होता है। उत्प्रेक्षा को व्यक्त करने के लिए प्रायः मनु, मनहुँ, मानो, जानेहुँ, जानो आदि वाचक शब्दों का प्रयोग किया जाता है।

उदाहरणः

सोहत औढे पीत पटु, स्याम सलोनें गात।
मनौ नीलमनि-सैल पर, आतपु परयौ प्रभात।।

स्पष्टीकरणः उपर्युक्त उदाहरण में श्रीकृष्ण के श्याम शरीर (उपमेय) पर नीलमणियों के पर्वत (उपमान) की तथा पीत तट (उपमेय) पर प्रीति की धूप (उपमान) की सम्भावना की गई है, अतः यहाँ 'उत्प्रेक्षा अलंकार' है।

अन्य उदाहरण -

(१) कहती हुई यो उत्तरा के नेत्र जल से भर गए।
हिम के कणों से पूर्ण मानों हो गए पंकज नए।

स्पष्टीकरणः यहाँ उत्तरा के अश्रुपूर्ण नेत्रों (उपमेय) में ओस-जल-कण युक्त पंकज (पंकज) की सम्भावना की गई है।

(२) इस काल मारे क्रोध के तनु कॉपने उनका लगा।
मानों हवा के जोर से सोता हुआ सागर जगा।।

उत्प्रेक्षा के भेदः

उत्प्रेक्षा के तीन प्रधान भेद है:

(१) वस्तुत्प्रेक्षा (२) हेतुत्प्रेक्षा (३) फलोत्प्रेक्षा। इनका संक्षिप्त विवेचन इस प्रकार है:

(1) वस्तुत्प्रेक्षा: वस्तुत्प्रेक्षा में एक वस्तु की दूसरी वस्तु के रूप में सम्भावना का जाती है। संकेत: उत्प्रेक्षा के प्रसंग में दिया गया उपर्युक्त उदाहरण वस्तुत्प्रेक्षा अलंकार पर ही आधारित है।

(2) हेतुत्प्रेक्षा: जहाँ अहेतु में हेतु मानकर सम्भावना की जाती है, वहाँ 'हेतुत्प्रेक्षा' अलंकार होता है।

उदाहरण -

मानहुँ बिधि तन-अच्छ छवि, स्वच्छ राखिबै काज।
दृग-पग पौछन कौ करे, भूषण पायन्दाज॥

स्पष्टीकरण: उपर्युक्त उदाहरण में हेतु 'आभूषण' न होने पर भी उसकी पायदान के रूप में उत्प्रेक्षा की गई है, अत: यहाँ 'हेतुत्प्रेक्षाश् अलंकार है।

(3) फलोत्प्रेक्षा: जहाँ अफल में फल की सम्भावना का वर्णन हो, वहाँ 'फलोत्प्रेक्षाश् अलंकार होता है।

उदाहरण -

पुहुप सुगन्ध करहिं एहि आसा।
मकु हिरकाइ लेइ हम्ह पासा॥

स्पष्टीकरण - पुरूषों में स्वाभाविक रूप से सुगन्ध होती है, परन्तु यहाँ जायसी ने पुष्पों की सुगन्ध विकीर्ण होने का 'फलश् बताया है। कवि का तात्पर्य यह है कि पुष्प इसलिए सुगन्ध विकीर्ण करते हैं कि सम्भवत: पद्मावती उन्हें अपनी नासिका से लगा ले। इस प्रकार उपर्युक्त उदाहरण में, अफल में फल की सम्भावना की गई है, अत: यहाँ 'फलोत्प्रेक्षाश् अलंकार है।

(5) प्रतीत अलंकार -

परिभाषा - 'प्रतीप' शब्द का अर्थ है विपरीत। इस अलंकार में उपमा अलंकार से विपरीत स्थिति होती है, अर्थात् जहाँ उपमान का अपकर्ष वर्णित हो, वहाँ प्रतीप अलंकार होता है। प्रसिद्ध उपमान को उपमेय रूप में कल्पित किया जा सकती है।

उदाहरण -

देत मुकुति सुन्दर हरषि, सुनि परताप उदार।
है तेरी तरवार-सी, कालिंदी की धार॥

स्पष्टीकरण - प्राय: तलवार की धार की तुलना नदी की तेज धार से की जाती है किन्तु यहाँ कालिन्दी की धार (उपमान) की तलवार की धार (उपमेय) के समान बताया गया हैय अत: उपर्युक्त उदाहरण में प्रसिद्ध उपमान का अपकर्ष होने के कारण श्प्रतीपश् अलंकार है।

(6) भ्रांतिमान अलंकार

परिभाषा: जहाँ समानता के कारण एक वस्तु में किसी दूसरी वस्तु का भ्रम हो, वहाँ भ्रांतिमान अलंकार होता है।

उदाहरण -

(क) पाय महावर देन को, नाइन बैठी आय।

फिरि-फिरी जानि महावरी, एड़ी मीड़ति जाय।

(ख) नाक का मोती अधर की क्रान्ति से,
बीज दाडिम का समझकर भ्रान्ति से,
देख उसको ही हुआ शुक मौन है,
सोचता है अन्य शुक यह कौन है?

स्पष्टीकरण - उपर्युक्त प्रथम उदाहरण में लाल एडी (उपमेय) और महावर (उपमेय) में लाल रंग की समानता के कारण नाइन को भ्रम उत्पन्न हो गया तथा द्वितीय उदाहरण में तोता उर्मिला की नाक के माती को भ्रमवश अनार का दाना और उसकी नाक को दूसरा तोता समझकर भ्रमित हो जाता है, अत: यहाँ भ्रान्तिमान अलंकार है। (७) सन्देह अलंकार

परिभाषा-जहाँ एक वस्तु के सम्बन्ध में अनेक वस्तुओं का सन्देह हो और समानता के कारण अनिश्चय की मनोदशा बनी रहे, वहाँ 'सन्देहश् अलंकार होता है।

उदाहरण

कैधौं ब्योमबीथिका भरे हैं भूरि धूमकेतु,
बीर-रस वीर तरवारि सी उधारी है।
तुलसी सुरेस चाप, कैंधों दामिनी कलाप,
कैंधों चली मे: ते कृसानु-सरि भारी है।

स्पष्टीकरण:
उपर्युक्त उदाहरण में, लंका दहन के वर्णन में हनुमान जी की जलती पूँछ को देखकर लंकावासियों को यह निश्चित ज्ञान नहीं हो पाता कि यह हनुमान जी की जलती हुई पूँछ है या आकाश मार्ग में अनेक पूच्छल तारे भरे हैं अथवा वीर रसरूपी वीर ने तलवार निकाली है, या यह इन्द्रधनुष है अथवा यह बिजली की तड़क है, या यह सुमे: पर्वत, से अग्नि की सरिता बह चली है, अत: यहाँ सन्देह अलंकार है।

८. दृष्टान्त अलंकार

परिभाषा: "जहाँ उपमेय, उपमान के साधारण धर्म में भिन्नता होते हुए भी बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव से कथन किया जाए वहाँ दृष्टान्त अलंकार होता है।" इसमें प्रथम पंक्ति का प्रतिबिम्ब द्वितीय पंक्ति में झलकता

उदाहरण -

दुसह दुराज प्रजान को, क्यौ न बढ़े दु:ख-द्वंद।
अधिक अँधेरों जग करत, मिलि मावस रवि-चंद॥

स्पष्टीकरण - उपर्युक्त उदाहरण में प्रथम पंक्ति उपमेय वाक्य है तथा दूसरी पंक्ति उपमान वाक्य है, अर्थात् प्रथम पंक्ति का प्रतिबिम्ब द्वितीय पंक्ति में झलकता है। अत: यहाँ 'दृष्टान्त' अलंकार है।

९. अतिश्योक्ति अलंकार

परिभाषा - जहाँ किसी वस्तु, घटना अथवा परिस्थिति की वास्तविकता का बढ़ा-चढ़ाकर वर्णन किया जाता है, वहाँ अतिश्योक्ति अलंकार होता है।

अन्य शब्दों में, जहाँ उपमेय का वर्णन लोक सीमा से अधिक बढ़ाकर किया जाए वहाँ अतिश्योक्ति अलंकार होता है।

उदाहरण

छाले परिबे के डरनु, सकै न हाथ छुबाइ।
झझकत हियै गुलाब कै, झवाँ अँवैयत पाई ।।

स्पष्टीकरण - उपर्युक्त उदाहरण में नायिका के पाँवों की सुकुमारता का बहुत बढ़ा-चढ़ाकर वर्णन किया गया है, अत: यहाँ अतिश्योक्ति अलंकार है।

अन्य उदाहरण

(१) आगे नदियो पड़ी अपार, घोड़ा कैसे उतरेपार।

राणा ने सोचा इस पार तब तक चेतक था उस पार।।

स्पष्टीकरण - यह सोचने की क्रिया की पूर्ति होने से पहले ही घोड़े का नदी के पार पहुँचना लोक-सीमा का अतिक्रमण हैय अत: अतिश्योक्ति अलंकार है। ।

(२) हनुमान की पूंछ में लगन न पाई आग।

लंका सिगरी जल गई, गए निसाचर भाग।।

स्पष्टीकरण - यहाँ हनुमान की पूंछ में आग लगने से पूर्व ही लंका के जल जाने का उल्लेख किया है। अत: अतिश्योक्ति अलंकार है।

(1.) अनन्वय अलंकार

परिभाषा - जहाँ उपमान के अभाव के कारण उपमेय ही उपमान का स्थान ले लेता है, वहाँ अनन्वयश् अलंकार होता है।

उदाहरण

राम से राम, सिया सी सिया।
सिरमौर विरचि बिचारि सँवारे।।

स्पष्टीकरण - उपर्युक्त उदाहरण में राम और सीता ही उपमान है तथा राम और सीता ही उपमेय, अत: यहाँ 'अनन्वय' अलंकार है।

2.8 काव्य में अलंकारो का स्थान

काव्य को सुन्दरतम् बनाने के लिए अनेक उपकरणों की आवश्यकता पड़ती है। इन उपकरणों में एक अलंकार भी है। जिस प्रकार मानव अपने शरीर को अलंकृत करने के लिए विभिन्न वस्त्राभूषणादि को धारण करके समाज में गौरवान्वित होता है, उसी प्रकार कवि भी कवितारूपी नारी को अलंकारों से अलंकृत करके गौरव प्राप्त करता है।

आचार्य दण्डी ने कहा भी है -

“काव्यशोभाकरान् धर्मान, अलंष्कारान् प्रचक्षते।“

अर्थात् काव्य के शोभाकार धर्म अलंकार होते हैं। अलंकारों के बिना कविता रूपी नारी विधवा-सी लगती है। अलंकारों के महत्व का कारण यह भी है, कि इनके आधार पर भावाभिव्यक्ति में सहायता मिलती है तथा काव्य रोचक और प्रभावशाली बनता है। इससे अर्थ में भी चमत्कार पैदा होता है तथा अर्थ को समझना संगम हो जाता है। वस्तुत: काव्य में अलंकारों की उपादेयता असंदिग्ध है। यह सत्य है कि अलंकार मात्र काव्य की आत्मा नहीं होते किन्तु काव्य से जिस चारूता अथवा सौन्दर्यानुभूति के स्फुरण की आशा की जाती है। उनका बहुतांश दायित्व अलंकारों पर है।

टिप्पणी

2.9 काव्य में अलंकारों का महत्व

काव्य में अलंकारों का विशिष्ट महत्व है, इस तथ्य को विभिन्न विद्वानों ने सर्वसम्पत्ति से स्वीकार किया है। यहाँ कतिपय समीक्षकों विद्वानों तथा कवियों के अलंकार के काव्य में प्रयोग में महत्व से सम्बन्धित अभिमत उद्धत किये जाते हैं।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार - "भावों का उत्कर्ष दिखाने और वस्तुओं के रूप, गुण और क्रिया का अधिक तीव्र अनुभव कराने में कभी-कभी सहायक होने वाली युक्ति ही अलंकार है। यदि किसी वर्णन में उनमें इस प्रकार की कोई सहायता नहीं पहुँचती, तो काव्यालंकार नहीं, भार मात्र है। भावानुभाव में वृद्धि करने के गुण का नाम ही अलंकार की रमणीयता है।श्श

डा. भागीरथ मिश्र के शब्दों में- किसी भी युग और किसी भी कवि का काव्य क्यों न हो अलंकार उसकी रचना के सौन्दर्य में समाविष्ट रखते हैं। हां, यह बात अवश्य सत्य है कि अलंकार जुटाने के लिए कविता लिखना ठीक नहीं है। ऐसी अलंकार योजना जो केवल अलंकरण के लिए ही कविता में की जाती है। उसकी शोभा न बनकर उसका भार बन जाती है। परन्तु सहज-स्वाभाविक रूप में अनुभूति को प्रकट करने के लिए जो उक्ति भंगिमा अलंकारों के रूप में प्रकट होती है, वह वाणी की सुषमा ही नहीं, वरन् उसकी गरिमा भी हैं।"

डा. रामकुमार वर्मा के शब्दों में- "वस्तुतः अलंकारो का प्रयोग भाषा और भावों की सौंदर्य-सृष्टि के संचार करने में तथा उनके द्वारा जीवन के कार्य-व्यापारों को आकर्षक बनाने में है। इन प्रयोगों को इसलिए अलंकार कह दिया गया है कि उनसे भाषा और भावों की नग्नता दूर होकर उनमें सौंदर्य और सुषमा की सृष्टि होती है।"

डा. जगदीश नारायण त्रिपाठी के शब्दों में - "अलंकार वाणी के विभूषण हैं। वे भाषा को उर्वर बनाते हैं। भाषा को महत से महत सत्य की अभिव्यंजना कराने की शक्ति प्रदान करते हैं। पाठकों को गहरे रूप में प्रभावित करते हैं और अभिव्यंजना में सौष्ठव और सौंदर्य की प्राण-प्रतिष्ठा करते हैं। अलंकार केवल कवि की सौंदर्य-प्रियता के द्योतक ही नहीं है, अपितु उसकी सीमित शब्दावली के भी प्रमाण है। जब कभी शब्द-शक्ति कवि को निराधार छोड़ देती है, तब कल्पना-शक्ति के सहारे अलंकारों के तथा लाक्षणिकता के मनोरम देश में पहुँच जाता है और वहाँ से नये-नये रत्नाभूषण लाकर कविताकामिनी का अभिनव श्रृंगार करता हैं।"

डा. देवराज के शब्दों में - "कहा जाता है कि समस्त अर्थालंकारों का मूल उपमा है। यह उपमा कुछ नहीं जीवन और जगत की अर्थवत छवियों को सम्बन्धित करने को एक प्रकार मात्र है। वैज्ञानिक भी वस्तुओं के सम्बन्ध-सूत्र खोजता है, परन्तु यह सम्बन्ध प्रायः कार्य कारणमूलक होते हैं। साहित्यकार जिन सम्बन्धों को देखता व पाता है वे नितान्त निम्नकोटि के होते हैं। शायद इनका मूल मानवता की अन्तः प्रकृति में रहता है। शायद वे मूल्य-जगत के अनिर्वाच्य नियमों के वाहक होते हैं। इसका यह अर्थ हुआ कि उपमा अथवा अन्य अलंकारों का विधान कोई खामखयाली चेष्ट नहीं है।

वे अलंकार जो वस्तुतः मार्मिक है, जो हृदय को स्पर्श करते हैं, प्रगल्भ कल्पना के रूप में नहीं आते, वे अनुभूति का अविभाज्य अंग उसके विधायक-अणु-परमाणु रूप होते हैं। ऐसे अलंकार वाणी या कल्पना का विलास मात्र नहीं होते।"

कविवर पंत के शब्दों में: अलंकार केवल वाणी की सजावट के लिए नहीं, वे भाव की अभिव्यक्ति के विशेष द्वार है। भाषा की पुष्टि के लिए राग की परिपूर्णता के लिए, आवश्यक उपादान है। वे वाणी

के आचार-व्यवहार रीति-नीति है। पृथक स्थितियों के पृथक स्वरूप, भिन्न अवस्थाओं के भिन्न चित्र हैं। वे वाणी के हास, अश्रु, स्वप्न, पुलक, हाव-भाव है।

1. अलंकारवादियों का अलंकार विषयक दृष्टिकोण

अलंकारवादियों ने अलंकार को काव्य की आत्मा माना है।

अलंकारवादी दण्डी के अनुसार-

"काव्य-शोभकरान् धर्मानलंकारान् प्रत्यक्षते"

अर्थात् अलंकार काव्य की शोभा करने वाले धर्म है -

इसके दो परिणाम निकलते हैं

(१) अलंकार काव्य के धर्म अर्थात् सहज गुण है।

(२) काव्य की शोभा अथवा सौंदर्य अलंकारों पर ही निर्भर है।

इस प्रकार अलंकारवादियों की मान्यता है कि प्रत्येक चमत्कारपूर्ण उक्ति-पद की अधिकारिणी है और प्रत्येक काव्योक्ति में चमत्कार अनिवार्यतः वर्तमान होना चाहिए। इस प्रकार से सभी अलंकारवादियों ने अलंकार के साध्य होने की घोषणा की और उन्होंने अलंकार को काव्य का साध्य अपनी अलंकार विषयक धारणाओं द्वारा स्पष्ट किया -

1. **वेदव्यास के अनुसार** - अलंकार रहित सरस्वती विधवा के समान मान को उल्लाहित नहीं करती।
2. **भामह के अनुसार** - सुन्दर होने पर भी भूषण (आभूषण) के बिना नारी के मुख पर कांति नही आती।
3. **दण्डी के अनुसार** - अलंकार काव्य की शोभा करने वाले धर्म हैं।
4. **उद्भट के अनुसार** - गुण और अलंकार चारूत्व के हेतु हैं।
5. **वामन के अनुसार** - काव्य में सौंदर्य ही अलंकार है।
6. **रूद्ट के अनुसार** - कवि को उदार मति सालंकार काव्य की रचनाओं में सफल होती है।
7. **कुन्तक के अनुसार** - काव्य को उदार मति सालंकार काव्य की रचनाओं में सफल होती है। अलंकार सहित, सम्पूर्ण अर्थात् अव्यवसहित समस्त शब्दार्थ समुदाय को काव्यता प्राप्त है। तात्पर्य यह है कि "अलंकार काव्य का स्वरूप विधायक धर्म है।"
8. **चन्द्रालोककार** - ने घोषणा की कि जो काव्य को अलंकार रहित मानते हैं, वे अग्नि को उष्णता रहित क्यों नहीं मानते

"अंगीकरोति यः काव्यंशष्दावनलंकृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलंकृति ॥"

2. अलंकार को सर्वस्व मानना और रस को अलंकार का एक अंग मानना

अस्वकार को काव्य का सर्वस्व मानने वाले इन आचार्यों ने अपने अलंकार-ग्रन्थों में रस का स्वतन्त्र रूप द्य से उल्लेख न कर उसे काव्य के प्राणभूत अलंकार का ही एक प्रकार माना है। उन्होने रसवत, प्रेम, ऊर्जास्वी तथा समाहित अलंकारों के भीतर रस और भाव के समग्र विषय को समाविष्ट कर दिया है। इस तथ्य के प्रमाण भामह, दण्डी, उद्भट एवं रूद्रट के अलंकार-ग्रन्थ है, जिनमें उन्होंने प्रेम, रसवत् आदि अलंकारों के द्वारा रस के समग्र विषय

टिप्पणी

को उल्लेख किया है। भामह स्पष्ट रूप से लिखते हैं कि जहाँ श्रृंगार आदि रसों की प्रतीति स्पष्ट रूप से होती हे, वहाँ रसवत् अलंकार की सता नहीं मानी जा सकती। इसी प्रकार दण्डी उद्‌भट तथा रूद्रट ने भी काव्य में रस का निवेश विशेष यत्न से करने का आदेश दिया है। सारांश यह है कि उपर्युक्त आलंकारिक रस तत्व को अलंकार का ही एक रूप मानते हैं। इस आचार्यों ने ध्वनि और परतीयमान अर्थ को काव्य का मूल तत्व नहीं माना है। न ही ध्वनि अथवा गुणीभूत व्यंग्य जैसे पदों का अपने अलंकार ग्रन्थों में प्रयोग किया है। इन्होंने समासोक्ति अप्रस्तुत, प्रशंसा, आक्षेप के भीतर प्रतीयमान अर्थ के अनेक प्रकारों का समाहार कर दिया है। इसी प्रकार काव्य में रस की स्थिति तो सदैव रहती है किन्तु वस्तु के सौन्दर्य में अलंकारों का प्रयोग करने से रस निष्पत्ति द्विगुणित हो जाती है क्योंकि विभाव पक्ष में चमत्कार आ जाता है। अत: रस और अलंकार काव्य में साधारणीकरण और चमत्कार के द्योतक है तथा दोनों का असीम प्रयोग श्रेष्ठ और असीम दोष का संकेत है।

2.10 अलंकार और रस

अलंकार: अलंकार सिद्धान्त के अनुसार अलंकार ही काव्य की शोभा के कारण है: अर्थात् काव्य का सौन्दर्य अलंकार पर आश्रित है, कवित्व अलंकार में निहित है। अलंकार शब्दार्थ के धर्म है, साधारण धर्म नहीं, अर्थात् ऐसे धर्म नहीं जिनका प्रयोग सामान्य भाषा में होता है अपितु विशेष धर्म जो शब्दार्थ में सौन्दर्य की सृष्टि करके उसे काव्य का रूप प्रदान करते हैं। अलंकार के दो भेद माने गये है- सामान्य और विशेष। सामान्य के अन्तर्गत काव्य के प्रसिद्ध वर्ण्य विषयों का उनकी वर्णन शैली की दृष्टि से विवेचन किया गया है, इस वर्ग में ऐसे विषयों अथवा वस्तुओं का वर्णन किया गया है जिनके समावेश से काव्य में **(काव्य का अर्थ यहाँ शब्दार्थ ही है-शब्दार्थौ काव्यम्)** सौन्दर्य का चमत्कार की सृष्टि होती है। यहाँ भी वस्तु मुख्य नहीं है, उसकी वर्णन शैली ही मुख्य है इसीलिये दण्डी ने वर्ण्य विषयों के साथ ही साथ कथा शिल्प के अंगों को अर्थात् सन्धि-सन्ध्यंग आदि को ग्रहण किया है। सामान्य अलंकारों का क्षेत्र वास्तव में प्रबन्ध काव्य है। विशेष अलंकार वर्ग में अनुप्रास, यमक आदि शब्दालंकारों और उपमा, रूपक आदि अर्थालंकारों का समावेश किया गया है। इन अलंकारों का क्षेत्र प्राय: उक्ति या वाक्य तक ही सीमित है। शब्दालंकारों की व्याप्ति कभी-कभी पूरे वर्ग या पूरे प्रबन्ध में भी मिलती है।

जैसे-राध्वापाण्डवीयम् आदि में

अस्तु सामान्य अलंकारों का सम्बन्ध प्रबन्ध अथवा कथा-काव्य से है और विशेष अलंकारों का सम्बन्ध मुक्क या सूक्ति काव्य है। इनमें से आगे चलकर, विशेष अलंकार ही यथावत् मान्य हुए और रस तथा अलंकार के दृज्जु के प्रसंग में अलंकार का अर्थ शब्दालंकार तथा तर्थालंकार ही माना गया। आधुनिक शब्दावली का प्रयोग करें तो अपने व्यापक अर्थ में अलंकार काव्य-शिला का पर्याय है और सीमित अर्थ में उक्ति-चमत्कार या अभिव्यंजना शिला।

इन दोनों में सामान्य अलंकारों की कल्पना रस से बहुत दूर नहीं पडती क्योंकि उनका तो रस के विभाव-अनुभाव से प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है काव्य के जो वर्ण्य विषय है वे ही तो रस के विभाव-अनुभाव है। विशेष अलंकार में चमत्कार प्राय: वाक्य तक सीमित रहता है, अलंकारवादी इस शब्दार्थगत चमत्कार को ही कवित्व का आधार मानता है, इसके द्वारा व्यक्त भाव को नहीं। वह यह मानता है कि छंद विशेष का सौन्दर्य उसमें प्रयुक्त शब्दार्थ के संगीत अथवा शब्दार्थ में निहित सादृश्य विरोध संगति आदि की चमत्कारमयी कल्पना पर ही आश्रित है न कि इन उपकरणों द्वारा व्यक्त या भाव पर।

"वह यह मानता है कि रस सामग्री या भाव-सामग्री अलंकार सृष्टि का साधन अवश्य बन सकती है किन्तु ये विभावादि प्रत्यक्ष रूप से कवित्व की सृष्टि नहीं करते-ये भी शब्दार्थ का ही उपकार करते हुए, उसमें चमत्कार उत्पन्न करते हैं अर्थात् रस भी अलंकार का ही अंग है।"

इसलिए अलंकारवादी आचार्यों ने रस तथा भाव का सर्वथा रूढ़ एवं स्थूल अर्थ में ग्रहण करते हुए उनका अपने सिद्धान्त में अतभाव करने के लिए रसवत् अलंकारों की कल्पना कर ली।

2.11 ध्वनि रसवादियों का अलंकार विषयक दृष्टिकोण

अलंकारवादियों ने जो काव्य का साध्य अथवा अनिवार्य तत्व का गौरव अलंकार को दिया वह स्थिर न रह सका। ध्वनि और रसवादियों ने उसे साधन मात्र बना दिया और अलंकार की व्युत्पत्ति इस प्रकार की गई -

"अलंक्रियतेनेनेत्यलंकारः''

अर्थात् जिसके द्वारा किसी की शोभा होती है, वह अलंकार है: ध्वनिवादी आनंदवर्धन ने उसे काव्य में कटक आदि के समान बताया है और कहा कि कटक आदि के समान जो अंगाश्रित है, वे अलंकार है -

"अग्डश्रितास्वत्वलंकारामन्तव्याः कटकादिवत।''

रसवादी विश्वनाथ ने कहा कि शोभा को अतिशय करने वाले रस, भाव आदि के उपकारक, जो शब्द और अर्थ के अस्थिर धर्म है वे अंगद (बाजूबन्द) आदि की तरह अलंकार कहलाते हैं

''शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्माः शोभातिशायिनः।
रसादीनुपकुर्वन्तोअलंकारास्तेष्ड. कदादिवत॥''

रसध्वनिवादी और रससादी इन आचार्यों के अलंकार विषयक दृष्टिकोण को निम्नलिखित बिन्दुओं में प्रस्तुत किया जा सकता है

१. अलंकार काव्य में साधन रूप है, साध्य नहीं। अतः वे काव्य के मूल्यांकन की एक मात्र कसौटी नहीं हो सकते हैं।

२. अलंकार न केवल शब्द, अर्थ अपितु रस, भाव आदि के उपकारक एवं उत्कर्ष में भी सहायक होते हैं, जो उपकारक एवं उत्कर्ष में भी सहायक होते हैं, जो सहायक या उपकरण मात्र है, वे मूल्यांकन की अनिवार्य कसौटी नहीं हो सकते।

३. अलंकार काव्य के अनित्य धर्म है। यो इनकी काव्य में सदैव व्याप्ति रहती है, परन्तु कभी-कभी वहीं होने पर भी काव्यत्व की ध्वनि नहीं होती।

४. अलंकारवाणी या अभिव्यक्ति का एक विशेष ढंग है।

५. रस और भाव के अभाव में अलंकार का प्रयोग उक्ति-वैचित्रय मात्र ही कहा जाएगा।

६. उक्ति वर्ण्य और उचित स्थान के लिए अलंकार का प्रयोग उचित है, अन्यथा नहीं।

2.12 अलंकार काव्य के साध्य हैं या साधन

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि अलंकारवादी जहाँ अलंकार को साध्य मानते हैं वहाँ ध्वनि-रसवादी आचार्य उसे साधन मानते हैं। इसे यो भी कहा जा सकता है कि अलंकारवादी ऐसा मानते हैं कि उक्ति चमत्कार काव्य नहीं है। यहां इसी तथ्य पर विचार करना है कि क्या प्रत्येक चमत्कारपूर्ण उक्ति काव्य है?

टिप्पणी

डॉ. नगेन्द्र के शब्दों में

चमत्कार की मूलवृत्ति है कौतूहल।

किसी असमान्य वस्तु को देखकर या असाधारण उक्ति को सुनकर हमारी कौतूहल नहीं हैं। काव्य का आनन्द वासनाओं की उबुद्ध दूसरे शब्दों में भावों की संस्कृति से सम्बन्ध रखता है। इसमें सन्देह नहीं है कि उसके सारम्भूत प्रभाव में कवि की लोकोत्तर प्रतिभा के प्रति कौतूहल और विस्मय का भाव भी मिश्रित रहता है, परन्तु यह सर्वथा गौण है और रसानुभूति के समय उसकी पृथक सत्ता नहीं होती। अत: काव्य के लिए वह चमत्कार जिसके लिए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने रमणीयता की संज्ञा अधिक उपयुक्त समझी है वास्तव में हमारी कौतूहल या विस्मय को नहीं जगाता। वह हमारी भाववृत्तियों को ही जगाता है। इसीलिए वह भाव की रमणीयता के ही आश्रित है, दूर की सूझ या बुद्धि के व्यापारों के नही।

अत: वह चमत्कारपूर्ण उक्ति काव्य हो सकती है, जिसका चमत्कार भाव की रमणीयता, कोमलता, सूक्ष्मता अथवा तीव्रता के आश्रित हो ऐसी उक्ति जिसका चमत्कार बौद्धिक ग्रन्थियों के सुलझाने से सम्बन्ध रखता है या केवल कल्पना-विधान के आश्रित नहीं है। उक्ति-चमत्कार या अलंकार के बिना भी कविता का अस्तित्व संभव है। यथा

कवि निराला की निम्नलिखित पंक्तियाँ

"वह आता,
दो टूक कलेजे के करता,
पछताता पथ पर आता।
पेट-पीठ दोनों मिलकर है एक,
चल रहा लकुटिया टेक।
मुठी भर दाने को
भूख मिटाने को
मुँह फटी पुरानी झोली को फैलाता।"

2.13 अलंकार काव्य के उत्कर्ष के साधन

अलंकार काव्य के उत्कर्ष का महत्वपूर्ण साधन है, लेकिन वह काव्य का साध्य नहीं। सादृश्यमूलक अलंकार विभाग के स्वरूप को विशद एवं ग्राम बनाते हैं और अनेक अलंकार ऐसे है जो कल्पना को उद्दीप्त कर भाव को तीव्रता प्रदान करते हैं। इतना ही नहीं सत्य तो यह कि अलंकार केवल रस के उपकारक ही नही हैं, वे रस की अभिव्यक्ति के अनिवार्य माध्यम भी है काव्य की भाषा व्यापक अर्थ में अलंकृत ही हो सकती है। कोई भी कवि चमत्कार विहीन शब्दार्थ के माध्यम से रमणीय अर्थ या भाव का प्रतिपादन नहीं कर सकता।

इस प्रकार अलंकार काव्य के साध्य नहीं साधन है। वे काव्य के शोभाकारी धर्म हैं उनका जब काव्य में उचित और मर्यादित प्रयोग होता है, तभी वे सौंदर्यविधायक भी है अन्यथा मात्र बौद्धिक उक्ति चमत्कार या अलंकारों का चमत्कार के लिए प्रयोग काव्य का उपकर्ष ही करता है।

अलंकार काव्य के साधन तथा काव्य का साध्य है-रस

अलंकार काव्य के साधन नहीं साध्य है। वे रस या भाव को उत्कर्ष अवश्य प्रदान करते हैं। सादृश्यमूलक अलंकार विभाव के स्वरूप को विशद् तथा ग्राम बनाते हैं और अन्य अनेक अलंकार कल्पना को उद्दीप्त कर भाव को तीव्रता प्रदान करते हैं। वास्तव में अलंकार न केवल रस के उपकारक है, अपितु

रस की अभिव्यक्ति के अनिवार्य माध्यम है। काव्य की भाषा अपने अलंकृत अर्थ में चमत्कृत हो ही सकती है। अतः कहा गया है:

अलंकार वाणी के विभूषण है।

वे भाषा को उर्वर बनाते हैं। भाषा का महत् से महत सत्य की अभिव्यंजना कराने की शक्ति प्रदान करते हैं। पाठकों को गहरे रूप से प्रभावित करते हैं और अभिव्यंजना के सौष्ठव और सौंदर्य की प्राण प्रतिष्ठा करते हैं। अलंकार केवल कवि की सौंदर्यप्रियता के द्योतक नहीं है, अपितु उसकी सीमित शब्दावली के भी प्रमाण है। जब कभी शब्द-शक्ति कवि को निराधार छोड़ देती है। तब यह कल्पना शक्ति के सहारे अलंकारों के तथा लाक्षणिकता के मनोरम देश में पहुँच जाता है और वहाँ से नये-नये रत्नाभूषण लाकर कविता कामिनी का अभिनव श्रृंगार करता है।

अलंकार के साधन रूप को स्वीकार करके ही साहित्य शास्त्र में इस रूपक का विधान किया गया है। जिसमें कविता की तुलना लावण्यमयी युवती से करते हुए कहा गया है

शब्दार्थ जिसका शरीर है, अलंकार आभूषण है, रीति अवयवों का गठन है, गुण, स्वभाव और रस आत्मा है।"

अलंकारों पर विचार करते हुए डॉ. कृष्णदेव झारी ने निम्नलिखित तथ्य उजागर किये है:

१. अलंकार काव्य सौन्दर्य के कारक भी हैं और काव्य सौन्दर्य वृद्धि में सहायक महत्वपूर्ण तत्व भी।

२. वह न तो काव्य का केवल बहिरंग तत्व है, न केवल अन्तरंग अपितु काव्य के अन्तरंग तत्वों का अन्तरंग साधन है। वह साध नहीं है, साध्य नहीं।

३. अलंकार का सम्बन्ध काव्य के कलापक्ष (भाषा शैली) से है, पर वह भाषा-शैली तथा भावपक्ष दोनों को उत्कर्ष प्रदान करता है। वह अभिव्यक्ति का एक विशेष ढंग है।

४. यद्यपि सच्चे काव्य में अलंकार अलंकार्य के साथ संश्लिष्ट ओर घुला मिला होता है उसे पृथक नहीं किया जा सकता पर व्यावहारिक दृष्टि से अलंकार और अलंकार्य भिन्न-भिन्न काव्य-तत्व है।

५. प्रत्येक औचित्य अलंकार-विधान काव्यत्व है।

६. यद्यपि काव्य प्रायः अलंकार युक्त होता है, किन्तु अलंकार को काव्य का अनिवार्य तत्व न कहकर आवश्यक तत्व कहना अधिक उपयुक्त है।

७. अलंकार कवि-प्रतिभा से स्वतः स्फुरित हो, यही उत्तम रहता है, पर सचेतन प्रयत्न से भी अलंकार-विधान में कोई बुराई नहीं। यदि कवि अर्थोचित्य का ध्यान रखें।

अस्तु अलंकार काव्य के साधन है, साध्य नहीं। काव्य का साध्य या काव्य की आत्मा है रस भाव-सौंदर्य से रहित जिस चित्र-काव्य की सृष्टि होगी, वह सहृदय के मनः प्रतीति के लिए पर्याय नहीं होगी।

आचार्य रिचर्डस के अनुसार इसलिए 'कविता अनुभूति अथवा अनुभूतियों का वर्ग है।"

2.14 अलंकार काव्य के उत्कर्षक या अपकर्षक

काव्य में यदि अलंकारों का मर्यादित प्रयोग किया जाता है, स्वाभाविक प्रयोग किया जाता है, केवल बौद्धि-चमत्कार के लिए किया जाता है, कविता को उनसे बोझिल बना दिया जाता है तो काव्य के अपकर्षक

टिप्पणी

"जिस प्रकार एक रूपवती स्त्री अपने नैसर्गिक सौंदर्य के कारण बिना आभूषणों के भी आकर्षक बनी रहती है, उसी प्रकार कविता कामिनी भी बिना अलंकारों के सहन-सौंदर्य और माधुर्य के कारण बिना आभूषणों के भी आकर्षक बनी रहती है, उसी प्रकार कविता-कामिनी भी बिना अलंकारों के सहज-सौंदर्य और आधुर्य के कारण विद्वानों द्वारा श्लाधनीय रहती है, ग्रहणीय नही। रमणी के शरीर पर आभूषणों की जो उपयोगिता है, वही उपयोगिता कविता में अलंकारों की है। यदि स्त्री में नैसर्गिक सौंदर्य है तो आभूषण उसको अधिक आकर्षक एवं मोहक बना देते हैं, किन्तु यदि स्त्री कुरूपा है तो अलंकारों में उसे सौन्दर्य प्रदान करने की क्षमता नहीं है। अलंकार उसे हास्यास्पद बनाकर उसी कृरूपता में वृद्धि ही करेंगे।

इसी प्रकार यदि कविता में स्वाभाविकता, मधुरता और सुन्दरता होगी, तो अलंकार उसकी शोभा बढ़ा सकते हैं, किन्तु यदि कविता ही निम्नकोटि की है, तो अलंकार उसमें सौंदर्य साधक होंगे जब उन्नत शैली में सहेज रूप से प्रयुक्त होंगे। कविता की भावावेश की स्थिति में अलंकार स्वत: उद्‌भूत होंगे और ये ही ग्रहण योग्य अलंकार प्रधानत: काव्यांगभूत है।"

आनन्द कुमार स्वामी के शब्दों में - "काव्य में अलंकार प्रयोग की एक मर्यादा है।" अलंकार यदि भावों को स्पष्ट एवं मरणीय बनाकर रसात्मतका में वृद्धि करते हैं, तो वे अवश्यमेव अभिनंदनीय है, किन्तु जब वे साधन न बनकर साध्य का रूप धारण करते हैं, तब वे भारत रूप प्रतीत होते हैं। वस्तुत: अलंकार को साध्य मानकर चलने वाले हिन्दी के कवि केशव ने जब अपने काव्य की रचना की, तो वे साहित्य में उनके कारण उपहास के पात्र बने। उनकी **'रामचन्द्रिका'** की ये पंक्तिया, इसी तथ्य को प्रकट करती है, जहाँ कवि बिना गुण, रूप के साम्य के ही काव्य-सृजन में निमग्न होकर उपमा और श्लेष के चमत्कार में प्रवृत्त होता है

(१) पांडव की प्रतिभा सम लेखो, अर्जुन भीम माहमति देखो।

(२) राजल हे, जेसे कुल कन्या, धाय विराजल है संग धन्या।।

2.15 काव्य का अनिवार्य तत्व रस अलंकार नहीं

भाव-सौंदर्य से विहीन शब्दार्थ के जिस चमत्कार अर्थात् जिस चित्र-काव्य की सृष्टि अलंकारिक करेगा वह सहृदय की मन: प्रीति के लिए पर्याप्त न होगी। आधुनिक आलोचनाशास्त्र में अलंकार या अप्रस्तुत विधान अथवा बिम्ब-योजना का महत्व केवल केयूर या भुजबन्ध के समतुल्य नहीं है। उसका महत्व शरीर के रूप-रंग से भी अधिक है, फिर भी उसे प्राण-तत्व प्राय: नहीं माना गया और यह ठीक ही है।

अलंकार को कवित्व का पर्याय मान लेने पर यह भी मानना होगा कि कला चमत्कार की सृष्टि मात्र है, अनुभूति की सम्प्रेषणा या अभिव्यक्ति नहीं है और काव्य को उसके भव्य उद्देश्य से निश्चय ही नीचे गिरा देता।

2.16 प्रश्न-उत्तर

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. **अनुप्रास अलंकार किसे कहते हैं? उदाहरण सहित स्पष्ट कीजिए। तथा अनुप्रास अलंकार के विभिन्न भेदों का विवेचन कीजिए?**
2. **उपमान और उपमेय किसे कहते हैं? उदाहरण देकर स्पष्ट कीजिए।**

3. दो शब्दालंकारों तथा दो अर्थालंकारों के नाम बताइए।
4. अर्थालंकार किसे कहते हैं?
5. रूपक व उत्प्रेक्षा अलंकार में अंतर स्पष्ट कीजिए।

विस्तृत उत्तरीय प्रश्न

1. अलंकार शब्द की व्युत्पत्ति की व्याख्या कीजिए? अलंकार सिद्धान्त की परिभाषा दीजिए तथा अलंकार सिद्धान्त के विकास क्रम को भिन्न-भिन्न आचार्यों के द्वारा दिये गये मतों का विवेचन कीजिए?
2. अलंकार सिद्धान्त के स्वरूप का वर्णन कीजिए? अलंकार के भेदों का विवेचन कीजिए व शब्दालंकार तथा अर्थालंकार के विभिन्न अलंकार भेदों का संक्षिप्त विवेचन कीजिए?
3. काव्य में अलंकार का स्थान व अलंकारों के महत्व को रेखांकित कीजिए। अलंकारवादियों के द्वारा अलंकार विषयक दृष्टिकोण को स्पष्ट कीजिए। व अलंकार में रस का स्थान ज्ञात करों?
4. उपमा अलंकार किसे कहते हैं? उदाहरण सहित स्पष्ट कीजिए तथा उपमा अलंकार के अंग व भेदों का उदाहरण सहित वर्णन कीजिए?
5. अलंकार काव्य के साध्य है या साधन है स्पष्ट कीजिए? तथा अलंकार काव्य के उत्कर्षक या अपकर्षक के साधन है ज्ञात कीजिए?

♦♦♦♦♦

इकाई 3

रीति सिद्धान्त

संरचना

3.1 रीति शब्द की व्युत्पति
3.2 रीति संबंधी विभिन्न काव्यशास्त्रियों के मत
3.3 रीति की परिभाषा
3.4 रीति के विविध पर्याय
3.5 रीति भेद के आधार
3.6 रीति और शैली
3.7 प्रश्न–उत्तर

टिप्पणी

3.1 रीति शब्द की व्युत्पत्ति

रीति का व्युत्पत्यार्थ है- गति, चलन, मार्ग, पथ, वीथी आदि।

महाराज भोज ने रीति की व्युत्पति इस प्रकार बतायी है।

"वैदभीदिकृतः पन्था काव्येमार्ग इति स्मृतः।
रीड्वताविति धातौः सा व्युत्पत्या रीतिरूच्यते।"

अर्थात् वैदभेदि मार्ग काव्य - मार्ग रह गये है रीति शब्द की उत्पत्ति रीड्गतौ (चलना) गत्यर्थक रीड् धातु में किन प्रत्यय के योग से हुई है। अतः इसका शब्दिक अर्थ चाल मार्ग पद्धति प्रणाली, शैली आदि है। काव्य शास्त्र में पद रचना पद्धति को रीति कहा जाता है इसीलिए आचार्यवामन ने लिखा है:

"विशिष्ट पद रचनारू रीतिः"

काव्यशास्त्र में इसका व्यवहत अर्थ में विशिष्ट प्रकार की अभिव्यक्ति पद्धति के अर्थ रहा है और यही हिंदी में आज शैली हो गया है। अंग्रेजी में इसे स्टाइल कहते हैं।

3.2 रीति संबंधी विभिन्न काव्यशास्त्रियों के मत

रीति मत के प्रधान प्रतिपादक आचार्यवामन है। उन्होने रीति का एक सिद्धान्त के रूप में निरूपण किया और इसे काव्य की आत्मा माना है। किन्तु उनके पूर्व रीति शब्द का प्रयोग प्रत्येक काव्याचारों ने किया है। इसको पहले गुण के रूप में पुकारा जाता रहा थ

गुण का सर्वप्रथम वर्णन करने वाले भरतमुनि है। उन्होंने दस हजार काव्य गुणों का नाट्य शास्त्र में वर्णन किया है। भरतमनि द्वारा विशिष्ट गणों का दण्डी ने स्वीकार किया है किन्तु उसे पूर्व भामह ने काव्यलकार म रीति संबंधी आनुषंगिक विचार विमर्श किया है। भामह ने वैदर्भी और गौड़ी को महत्व दिया। उन्होंने इस प्रचल्लित धारणा का खण्डन किया कि वैदर्यो मार्ग श्रेष्ठ है। वह वकोक्ति ही है वे वैदर्भी को कमिण, ऋजु प्रसन्न पदावली से युक्त होने पर भी गेय- मात्र और कर्ण-सुखद मात्र मानते थे। अलंकारवादी होने के कारण ही बिना अलंकारो के उन्होंने रीति का कोई महत्व नहीं माना है और इसीलिए वह गौड़िय रचना पर विशेष बल देते हैं। यथा:

अलंकारवदग्राम्यम् अर्थ्य न्याथ्यमनाकुलम।
गौडीयमपि साधीयो वैदर्भमपि च नान्यथा।

अलंकार युक्त ग्राम्य दोष से रहित, अर्थ पुष्टि औचित्यपूर्ण गौडिय की भी रचना करनी चाहिये। अलंकारादि से युक्त होने पर इन दोनो में कोई भेद नहीं, दोनो ही श्रेष्ठ होती है। अलंकारादि के बिना वैदर्भी भी व्यर्थ है।

दण्डी ने रीति के लिए काव्य मार्ग और गिरा मार्ग शब्दों का प्रयोग किया है।

दण्डी ने सर्वप्रथम विभिन्न कवियों की विभिन्न शैलियां मानी। उन्होने वैदर्भी और गौड़ीय का उल्लेख तो उनकी प्रसिद्धि के कारण किया। उनका सर्वरूप निरूपण हो चुका था। उन्होने प्रत्येक कवि के मार्ग को भिन्न-भिन्न कहा है और यहाँ तक कह दिया है कि जो कवि दूसरों के मार्ग का अनुकरण करता है और अपनी रीति का निर्माण नहीं करता, वह अंधा है। दण्डी ने वैदर्भी को ही कवियों के लिए उपयोगी बताया है। दण्डी की गुण-कल्पना व्यापक है। उन्होने मधुर रसवत कहकर गुण के साथ इसको रीति में समाविष्ट कर लिया।

वामन ने सर्वप्रथम रीति को काव्य की आत्मा घोषित किया और रीतिरात्मा काव्यस्य विवेचन करने के पश्चात् रीति तत्वों का विस्तृत विवेचन किया। उन्होने गुणों को रीति का प्राण माना।

टिप्पणी

"विशेषोगुणात्मा"

इसलिए रीति सम्प्रदाय को गुण सम्प्रदाय भी मानते हैं। भरत मुनि ने अपने नाट्य शास्त्र में श्लेष, प्रसाद समता, समाधि, माधुर्य, ओज पद सुकुमारता, अर्थ व्यक्ति, उदारता ओर क्रन्ति इन दस का काव्यार्थ का गुण बताया है। रूद्रदामन ने अपने गिरनार के शिलालेख (१५. ई.) में माधुर्य, क्रिान्ति और उदारता आदि गुणों का उल्लेख किया है। दण्डी ने यद्यपि भरत के ही गुण विवेचन को ग्रहण किया है किन्तु उन्होने गुणों की व्याख्या में थोड़ा अन्तर कर दिया है। उन्होने इन गुणों को केवल वैदर्भी रीति का ही लक्षण माना है और उस प्रसंग में बताया है कि "गौड़ी रीति" में इन गुणों को ठीक उल्टा दिखाई पड़ता है।

"एषां विपर्ययरू प्रायो दृश्यते गौड़ वत्मेकि।"

अर्थ-व्यक्ति उदारता तथा समाधि गुणों को वे वैदर्भी और गौड़ों दोनो के लिये आवश्यक मानते हैं। यद्यपि आचार्य वामन ने भी इन दसों को माना तो है किन्तु उन्होंने इन्हे दो प्रकार का बताया है-१. शब्दगत, २. अर्थगत। गुणों के अन्तर्गत उन्होने रस, अलंकार आदि का समावेश कर दिया। उन्होने प्रादेशिकता के आधार पर रीति विभाजन का चण्डल करके गुणों के आधार पर वैदर्भी, गौड़ी और पांचाली तीर रीतियां निर्धारित की।

उन्होने भी वैदर्भी रीति को श्रेष्ठ बताया और गौड़ी को ओज व कांति गुणों से विभूषित माना। पांचाली को भी माधुर्य और सौकुमार्य दो गुणों से विभूषित माना, लेकिन समस्त गुणों से गुम्फित, दोषों से सर्वथा रहित और वीणा के स्वरों जैसे मधुर रीति केवल वैदर्भी को ही माना है

अस्पृष्टा दोषमात्राणिरू वमग्रगुणागुंफिताः
विपंचीस्वर सौभाग्या वैदर्भी रीतिरिष्यतेड़करू रीतिरिष्यते।"

उन्होने यत्र-तत्र इसका भी उल्लेख किया है कि रीति पढ़ने-लिखने अथवा सीखने से नहीं आती, अपितु वह तो जन्मजात संस्कार से संबंध रखती है। परन्तु आचार्य वामन का यह मत अन्य आचार्यों ने नहीं माना है।

वामन से पहले ही भामह ने इस गुणों के बदले माधुर्य ओज और प्रसाद केवल तीन ही गुण स्वीकार किये थे। जिन्हें पीछे के सभी आचार्यो (मम्मट, हेमचन्द्र, विश्वनाथ तथा कविराज आदि) ने मानते हुए सिद्ध किया है कि अन्य सात गुण या तो इन्ही के भीतर आ जाते हैं या वे दोष का अभाव मात्र दिखलाते हैं। (जैसे कान्ति) या वे गुण न होकर दोष हो जाते हैं। भोजराज ने वामन का ही अनुकरण किया है किन्तु उन्होने इन गुणों को तीन भागों में विभाजित किया है- १. बाह्य २. आन्तरिक और ३. वैशेषिक। साथ ही उन्होने गुणों की संख्या भी दस से बढ़ाकर चौबीस कर दी है।

वैदर्भी, गौड़ी और पांचाली रीतियों में वैदर्भी अधिक रमणीय रीति समझी जाती थी और गौड़ी निन्दित किन्तु भामह ने इसका संशोधन करते हुए कहा है कि किसी रीति को श्रेष्ठ या निकृष्ट नहीं कहना चाहिये क्योकि सब अपने अपने स्थान पर श्रेष्ठ ही होता है।

वास्तव में विचारक को काव्य के निम्नांकित सुन्दर गुणों पर ही ध्यान देना चाहिये- वक्रोक्ति युक्त होना अर्थ से पूर्ण होना ग्राम्य दोष से रहित होना आदि। दण्डी ने वैदर्भी को तो इस गुणों से युक्त और गौड़ी को कुछ गुण छोड़कर अन्य गुणों का उल्टा माना है, अत: वैदर्भी रीति को आदर्श मानते हैं और गौड़ी की अत्युक्त हीन। वामन ने तीनों शैलियों का परिचय देते हुए कहा है कि जिस शैली में सब शब्द गुण और अर्थ गुण हो वह वैदर्भी जिसमें केवल ओज हो और क्रान्ति गुण हो वह गौड़ी और जिसमें माधुर्य तथा सकुमार्य गुण हो उसे पांचाली कहते हैं। इस प्रकार उन्होने वैदर्भी और गौड़ी के अतिरिक्त तीसरी पांचाली रीति भी मान ली।

राजशेखर ने भी इस रीतियों की संख्या तीन ही मानी है बञ्छोमि मागधी तथा पांचालिका। रूद्र ने तो लाटी को नयी रीति मानकर उनकी संख्या चार कर दी। भोज ने अवन्ती, लाटी और मागधी की नई वृत्तियों को मानकर रीतियों की संख्या दुगनी कर दी। इस पर भी महत्व वायन निरूपित तीन रीतियों का ही है।

रीति सिद्धान्त की समीक्षा- रीति सिद्धान्त की अपेक्षा काव्य सिद्धान्त का विकास विशेष रूप से लक्षित होता है। काव्य के मूल रूप सिद्धान्त ने अधिक मार्मिक से विचार किया है। इस सिद्धान्त ने गुण और अलंकारों का पारस्परिक पार्थग्य दिखाते हुए गुणों को विशेष प्रक्षय प्रदान किया है। दूसरे रसविधान का अध्ययन भी इसी सिद्धांतियों के उत्कर्ष से गतिमान हुआ। भामह और दण्डी आदि आलंकारियों ने अलंकारों को काव्य की शोभा का मूलकारक माना था। परन्तु वामन ने नीति को प्रमुखता दी वह काव्य चिन्तन का स्वाभिक विकास सिद्ध हुआ। अलंकारो को यदि काव्य का मूल माना जाता है तो इस प्रश्न का उत्तर काव्य- अलंकारवादियों के पास कोई भी नहीं था। रस और विषय के अनुकूल शब्दावली और पदावली में अंतर क्यों हो जाता है। अत: वामन ने

इसका रीति के अर्थ में उत्तर दिया। वह वामन की महत्वपर्ण देन है कि उन्होने शैली का एक प्रसाधन अलकार की अपेक्षा समग्र शैली-रीति के महत्व की और काव्याशास्त्रियों का ध्यान आकृष्ट किया।

परन्तु इस संदर्भ में उल्लेख यह है कि अलंकारवादियों की तरह रीतिवादी भी मात्र विचार, संस्कृति जीवन-पुष्टि आदि पहलुओं को पूर्ण विस्तृत किए रहे। वे भी रीति के इन अतरंग तत्वों का कोई विनियोग स्थापित नहीं कर सके। रीति का आधार उन्होने गुणों को माना यह भी ठीक था, किन्तु उनकी दृष्टि परम्परागत इस गुणों तक ही सीमित रही और व इन गुणों को भी कोई व्यावहारिक विवेचन नहीं कर सके।

फिर शैली का संबंध कविता से ही नहीं अपितु गद्य से भी है और गद्य की दृष्टि से इन आचार्यो ने रीति का कोई विचार नहीं किया। अत: इसका रीति वर्णन अपूर्ण ही रहा। वस्तुत: रीति का सबंध कवि के व्यक्तित्व से नहीं जुड़ सका। दण्डी कुन्तन आदि आचार्यो ने नीति का आधार कवि स्वभाव बताया अवश्य, पर वे भी व्यावहारिक रूप में रीति और कवि-व्यक्तित्व या स्वभाव का संबंध सिद्ध नहीं कर सके। इस प्रकार रीति का सम्बन्ध अधिकतर पद-रचना से ही रहा।

इस प्रकार रीति का अर्थ है शैली वा कहने का ढंग। यद्यपि ध्वन्यालोक में आनन्द वर्धन ने यही कहा है कि-रीति सिद्धांतम के आचार्यो को काव्य तत्व का यथार्थ वर्णन करना नहीं आया इसलिए उन लोगो ने रीतियां चलाई।

अस्फुट-स्फुरितं काव्य तत्व में तद्यथोदितम
अशम्नु वदिव्यकिते रीतियः सम्प्रवर्तिता।

अर्थात् रीतिकाल वाले काव्य तत्व जानते अवश्य थे किन्तु किस प्रकार इन्हें व्यक्त करना चाहिये यही नहीं जानते थे, इसीलिये ये लोरा रीति के फेर में पड़ गये किन्तु अन्य रूप की स्पष्ट व्याख्या रीति सम्प्रदाय वालों ने ही की जिन्होने विशेषत: वामन ने अलंकार और गुणों को अलग करके उनका भेद समझाया। वे गुण को ही काव्य की शोभा बढ़ाने वाला मानते हैं।

"काव्य शोभाया कत्तारों धर्मा गुणाः
त्दतिशय हेतवत्वलंकाराः।"

उन्होने यह भी माना है कि गुण तो काव्य में नित्य रहते हैं बिना उनके काव्य की शोभा ही नहीं उत्पन्न हो सकती। यह गुण युक्त पद रचना ही रीति कही जाती है।

टिप्पणी

3.3 रीति की परिभाषा

रीति शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम आचार्य वामन ने किया। उनसे पूर्व दण्डी ने तथा उनके पश्चात कन्तक ने नीति के लिए मार्ग शब्द का प्रयोग किया। वामन से पूर्व भामह एवं दण्डी ने रीति की चर्चा की है। लेकिन उनमें से किसी ने रीति की परिभाषा या लक्षण नहीं दिया, यह कार्य आचार्य वामन ने किया।

1. **आचार्य वामन के अनुसार रीति की परिभाषा**

"विशिष्टपद रचना रीति।
विशेषो गुणात्मा।"

अर्थात् विशिष्ट पद- रचना रीति है। विशिट का अर्थ है - गुणसम्पन्न।

विशेष गुणात्मा गुणज का अर्थ है-काव्य की शोभा का एक धर्म।

अर्थात शब्द अर्थ के वे धर्म जो काव्य को शोभा सम्पन्न करते हैं गुण कहलाते हैं।

वे हैं ओज प्रसादादि-इस प्रकार "ओज प्रसादादि गुणों से युक्त पद रचना रीति है।"

2. **आचार्य आनन्दवर्धन के अनुसार रीति की परिभाषा**

आनन्वर्धन ने रीति को संघटाना नाम दिया। उनके अनुसार सम्यक अर्थात् यथोचित पद- रचना का नाम संघटना अथवा रीति है।

3. **आनन्दवर्धन और वामन की रीति परिभाषा**

वामन ने रीति की परिभाषा देते हुए पद रचना के पूर्व विशिष्ट (शब्द और अर्थगत् सौंदर्य से युक्त) विशेषण का प्रयोग किया है और आनन्दवर्धन ने सम्मयक का। इस प्रकार वामन ने शब्द और अर्थगत सौंदर्य का काव्य का चरम मान समझा है। लेकिन वर्धन ने सम्यक् विशेषण के द्वारा इस की महत्ता को प्रमुखता दी है। अत: आनन्दवर्धन के अनुसार रीति रसादायी है। अत: उन्होने पद रचना के लिए सम्यक् विशेषण का प्रयोग किया। लेकिन पद-रचना का वैशिष्ट्य अपने शब्द और अर्थगत् सौंदर्य से अभिन्न है। इस प्रकार आनन्दवर्धन के अनुसार रीति रस-रूप सौंदर्य का साधन है, जबकि वामन के अनुसार रीति स्वयं सौंदर्य है अर्थात् साध्य है।

4. **आनन्दवर्धन का रीति-विवेचन**

आनन्दवर्धन ने अपने मत का व्याख्यान करते हुए लिखा है-संघटना तीन प्रकार की कही गई हैअसमासा, मध्यसमासा तथा दीर्घ समासा। वह माधुर्यादिगुणे के आश्रय से स्थित रसों की अभिव्यक्ति करती है। निष्कर्षत: उनकी रति विषयक मान्यताएं निम्नलिखित है

(क) रीति का संघटना का आधार समास है।

(ख) रीति की स्थिति गुणों के आश्रय से है।

(ग) रीति रसभिव्यक्ति का साधन है।

5. **भोज की रीति की परिभाषा** -

भोज ने रीति मार्ग या पंथ तीनों को पर्याय सिद्ध करते हुए इनकी अभिन्नता प्रतिपादन की। उनके अनुसार रीति का अर्थ है- कवि-गमन-मार्ग-जिसे कुन्तक ने कवि प्रस्थान हेतु कहा है।

6. **कुन्तक की रीति की परिभाषा** -

कुन्तक ने रीति का नाम मार्ग रख लिया। उन्होने कवि प्रस्थान हेतु कहा। प्रस्थान हेतु का अर्थ है, विधि या शैली। कवि शब्द का प्रयोग करके उन्होने इस बात पर बल दिया है कि रीति का निर्णायक आधार कवि स्वभाव है। ७. राजशेखर की रीति की परिभाषा

"वचन-विन्यास क्रमों रीतिरू।"

अर्थात् वचनदृविन्यास का क्रम रीति है। यह परिभाषा वामन से भिन्न नहीं, केवल शब्दों का ही अंतर है। वचन का अर्थ है-शब्द या पद तथा विन्यास-क्रम का अर्थ है रचना ।

7. मम्मट की रीति विषयक परिभाषा

मम्मट ने रीति और वृति को अभिन्न मानते हुए उपनागरिकता, पुरूषा और कोमला वृतियों का विवेचन किया है और अन्त में कह दिया है कि यह तीनों वृतियां ही वामन आदि आचार्यों की वैदर्भी, गौड़ी और पांचाली नामक रीतियां है।

उनके अनुसार रीति (वृति) नियम वर्ण-व्यापार है अर्थात् रीति वर्ण- सगुम्फन का नाम है और यह वर्ण नियत होते हैं। इस प्रकार उन्होने रीति का वाहक समास को मानकर वर्ण-गुम्फ को माना है। क्योकि वर्ण-गुम्फ का गुम्फ के साथ - साथ नियत सम्बन्ध है, प्रत्येक गुण के अनुसार ही वर्णो का संगुम्फ होता है और उसी गुण के अनुसार रीति का स्वरूप निश्चित होता है।

8. आचार्य विश्वनाथ की रीति विषयक परिभाषा

पदों का संगठन या मेल ही रीति है। यह संस्थान ही भांति है। जिस प्रकार शरीर के अंगों का संगठन होता है वैसे ही काव्य शरीर में शब्दों और अर्थो का संगठन होता है। यह रीति काव्यात्मभूत इस भाव आदि की उपकारक होती है।

3.4 रीति के विविध पर्याय

रीति का प्रारम्भिक सम्बन्ध शैलीगत प्रादेशिकता से रहा है। नाट्यशास्त्र के अन्तर्गत इसका विकास वृति के रूप में हुआ। यही नहीं काव्य शैली वैशिष्टय रूप में भी इसे धीरे-धीरे मान्यता मिलती गई और कवि मार्ग के रूप में प्रतिष्ठित हुई। आचार्य भरत, भामह दण्डी इसे मार्ग काव्य पद्धति तथा काव्य कवि पन्थ के रूप स्वीकार करते हैं। मत का पूर्णत: खण्डन करते हुए गुणानुविद्ध बताकर इसे काव्यात्मा के रूप मान्यता प्रदान की। श्काव्यात्माश् के रूप में इसे प्रतिष्ठित करने के पिछे अभिप्राय यह था कि काव्य की भाषिक समृद्धि को प्राण वता प्रदान करने में यह एक महत्वपूर्ण योगदान है। काव्य भाषा के इस बाह्य तत्व को परवर्ती आचार्य द्वारा स्वीकार किया गया। आचार्य मम्मट इसे महान पुरूष तथा कोमल के रूप में ग्रहण करते हैं। आचार्य शिभूपाल इसे कोमल कठिन एवं मिश्रित भाषिक गुण के रूप मे स्वीकृति देते हैं। भाषा के इस भावात्मक के अतिरिक्त अनेक आचार्यों ने रीति का विवेचन करते हुए उसके सम्बंद्ध भाषा के व्याकरिणक एवं रचनात्मक स्वभाव का निर्देश किया है। ध्वनिवादी आचार्य आनन्द वर्धन रीति को पद संघटन के विशिष्टक्रम में प्रतिपादित करते हैं। उनके अनुसार वैदर्भी असमासयुक्त गौड़ीय समासयुक्त तथा पांचाली मध्यम समास युक्त रचना है। समास रचना की ओर दण्डी, भामह एवं वामन ने भी संकेत किया था किन्तु आनन्दवर्धन इसे मात्र समास तक ही सीमित रखते हैं। शब्द संघटन धर्म के रूप में विवेचित इनका क्रम आगे चलकर भोज आदि द्वारा स्वीकार हुआ। इस सिद्धान्त को आचार्य भोज ने और अधिक विकसित किया। इससे उन्होनें काव्य वंध तथा योग वृतादि का समावेश किया। इससे पूर्व आचार्य राजशेखर ने अभिधेय तथा लक्षणागत अर्थो को भी इसमें समाविष्ठ किया था।

1. रीति को काव्य की आत्मा मानने का अभिप्राय

रीति विशिष्ट प्रकार की उक्ति या पद संघटना है, जो कवि या वक्ता की प्रतिज्ञा से उत्पन्न होती है, व्युत्पति से विकसित होती है तथा अभ्यास से सिद्ध होती है, जो वाच्य और वाचक

के सौभाग्य तथा लावण्य पोषक औचित्य से अनुप्रमाणित होकर गुणों के आश्रय से खड़ी होती हुई रस अथवा भाव को अभिव्यक्त करती है। जिससे वस्तुओं का नियतिनियम रहित स्वभाव विदग्ध्भीणतिभंगी रूप में चित्रित रहता है, जिसमें विषय का उच्च तथा सूक्ष्म स्वभाव, भाव-लावण्य-योजना द्वारा अन्य रूप में ग्रथित रहता है। जिसमें अनुभूति को आनन्दात्मक रूप में घोषित करने की क्षमता रहती है। जहाँ शब्द और अर्थ दोनों की समान रूप घोषित करने की क्षमता रहती है। पदार्थो के महत्व की उत्कर्षता अलंकारों के प्रयोग की अनुकूलता से सुशोभित रहती है। लोकोतीर्णता जिसका स्वभाव है, सौन्दर्य-पुष्टि जिसका लक्ष्य है, भावानुकूलता जिसका कारण है तथा सत्वमय आनन्द की अखण्ड अनुभूति करना जिसका कर्तव्य है। रीति शब्दाश्रित गुणों को ही नही धारण करती, अपितु अर्थाश्रित गुणों को भी धारण करती है। उसका सम्बन्ध पद, गुण अलंकार से नहीं वरन काव्य के अन्य तत्व-वृति, ध्वनि वक्रोक्ति औचित्य रस आदि से भी है। रीति से वर्ण्य का ज्ञान ही नहीं होता वरन उसकी रसात्मक अनुभूति भी होती है, इससे विषय का बोध ही नहीं होता वरन् कवि के व्यक्तित्व की भी पहचान होती है। यह कवि की भावात्मक स्थिति से अनुशासित होती है, विषय तथा काव्य रूप से नियन्त्रित होती है तथा युग की संस्कृति, परिस्थिति विशेषता तथा आवश्यकता के अनुसार अपना रूप संवारती है। कवि व्यक्तित्व के भेद के अनुसार रीतियों की संख्या भी असीमित है।

2. रीति को काव्य की आत्मा मानने का प्रमाण

जब आचार्य वामन ने रीति को काव्य की आत्मा कहा था तब उनका अभिप्राय यह था कि वे विशिष्ट पद - रचना से लेकर विशेषोगुणात्मा तक की स्थिति को रीति में शामिल कर रहे थे। आचार्य वामन ने रीति को काव्य की आत्मा प्रमाणित करते समय निम्नांकित महत्वपूर्ण बातें कही

(1) **रीति विशिष्ट**-पद रचना का समूह है, अतः काव्य की आत्मा है।

(2) रीति की विशिष्टता गुणों के आश्रित है। वामन की दृष्टि में गुण वे है जो शब्दार्थ सहित होने के कारण काव्य-सौन्दर्य की वृद्धि करते हैं इससे यह सिद्ध होता है कि वामन रीति को काव्यात्मा मानते हुए शब्द और अर्थ के धर्मों से युक्त विशेष प्रकार की रचना की रीति कहते थे।

(3) वामन ने रीति को गुणों के आश्रित बतलाते हुए गुणों को शब्द और अर्थ के आश्रित माना है। उन्होने शब्द-गुणों का आधार सभी प्रकार की वर्ण योजना, पद-बन्ध को माना तो अर्थ-गुणों का आधार अर्थ-सौन्दर्य को स्वीकार किया।

(4) **वामन के अर्थ**-गुणों के मूल में रस, ध्वनि अर्थालंकार और शब्दशक्ति के भावनात्मक सौन्दर्य का और दोषाभाव के कारण अभावात्मक सौन्दर्य का समावेश हुआ है। वामन रीति को शब्द और अर्थ के आश्रित मानकर इस और ध्वनि का समावेश करते हुए ही उसे काव्य की आत्मा स्वीकार करते थे। इसी आधार पर उन्होनें रीति को काव्य की आत्मा माना है।

3.5 रीति भेद के आधार

रीति तीन प्रकार की मानी गई है। कुछ विद्वान रीति को चार प्रकार की और कुछ छरू प्रकार की और कुछ आठ प्रकार की मानते हैं। प्रमुख रूप से रीति के तीन भेद हैंकृवैदर्भी, गौड़ और पंचाली। इन तीनों का विवेचन क्रमशरू निम्नलिखित है।

रीति के भेद

1. **वैदर्भी रीति** – समासविहीनता, माधुर्य सौकुमार्य आदि समस्त प्रमुख गुणों से पूर्णश्रुति माधुर्य, स्थानानुप्रास, सुकुमार बन्ध तथा अनुपचार वृति जिस रीति में हो, वह वैदर्भी रीति कहलाती है। सरस्वती–कण्ठाभरणकार 'भोजराजश् ने इस रीति का स्वरूप निर्देशन करते हुए लिखा है।

"माधुर्य व्यंजकैर्णणै रचना ललितात्मिका।
अल्पवृतिरवृतिर्वा वैदर्भी रीतिरिष्यते।।"

इन पंक्तियों के अनुसार माधुर्यभित्यन्क वर्णन लालित्य और अल्प अथवा समास हीनता वैदर्भी रीति के लक्षण है। इस परिभाषा से प्रथम परिभाषा अधिक व्यापक है। इसमें जो तीन प्रमुख लक्षण मधुर वर्ण व्यंजना, लालित्य और समास हीनता–बतलाए हैं, वे प्रथम परिभाषा के समास विहीनता, माधुर्य तथा सुकुमार–बन्ध के अन्तर्गत आ जाते हैं। अन्य आचार्यो द्वारा उल्लेखित वैदर्भी के लक्षणों का समावेश भी उपर्युक्त प्रथम परिभाषा में हो जाता है। इस सर्वमान्य और बहुप्रशंसित रीति का एक उदाहरण देखिए।

"रूनिजत भंग घंटावली, झरत दान मधुनीरा।
मछन मछन आवत चाल्यौ कुअर समीर ।।"

बिहारी के इस दोहे में सामासिकता का सर्वथा अभाव है, आरम्भ से अन्त तक माधुर्य–अभिव्यक्ति वर्णो की संघटना दर्शनीय है। पंचम वर्णो के प्रयोग ने इस काव्य पंक्तियों में श्रुति–मधुर संगीतात्मकता एवं लालित्य ला दिया है। स्थानानुप्रास की छटासुकुमार बन्ध के साथ सहज ही मन मोह लेती है। बिहारी का कुअर–समीर एक एक शब्द और वर्ण के साथ ही मतवाली चाल से मन्द मन्द आवत चत्यौ, हाथी की घंटावली के समान भंगों की शब्द ध्वनि का संगीत ध्वनित (रूनित) करता कुएं में प्रवेश पा रहा है। कवि की इस मनोमुग्ध–कारी वन्दना वर्णविन्यास, अलंकार योजना, पद–लालित्य और माधुर्य पर रीझकर कौन वाह। वाह नहीं कर उठेगा। वैदर्भी रीति की यही तो वह विशेषता है, जिसने रीति का काव्य की आत्मा न मानने वालो को भी इसकी प्रशंसा करने को विवश कर दिया।

2. **गौड़ी रीति** - आज ओज गुण पर आधारित अवलम्बित रहती है। वीर, रौद्र, वीभत्स, भयानक आदि इस वर्णन में इसका आश्रय लिया जाता है। वामन ने इसका लक्षण ओज क्रान्तिमयी गौड़िया कहकर दिया है अर्थात इसमें चितवृति में उद्वेग उत्पन्न करने वाली होती है। गौड़ बंगाल देश के कवि अलंकारयुक्त शब्दाडम्बर संयुक्त बन्ध की प्रगाढ़ता से युक्त काव्य–रचना किया करते थे। उन्हीं के नाम पर इसने अपनी संज्ञा पाई। संमग्र रूप से देखने पर इसमें ये विशेषताएं मिलती है।

(१) ओज गुण की प्रधानता

(२) अलंकार बाहुल्य

(३) शब्दाडम्बर एवं सयुक्ताक्षरों की बाहुल्यता

(४) प्रगाढ़ बन्धन अथवा कठिन गुंफन

(५) कठोर वर्णो का प्रयोग

(६) दीर्घ समासों की प्रधानता

(७) विकट रचना–कौशल

(८) वीर, रौद्र, भयानक, आदि रसों की सृष्टि

(९) ध्वन्यात्मकमा

(१०.) दिव्य एवं संयुक्त वर्णो का प्रयोग वीर रस से ओतप्रोत काव्य में इस रीति के सुन्दर उदाहरण मिलते हैं। श्री श्यामनारायण पाण्डेय रचित हल्दीघाटी काव्य का एक उदाहरण दृष्टव्य है।

"लहरात थी सिर काट-काट
बलखती थी भू पाट-पाट
बिखराती थी अवयव चाट-चाट
तनती की लोक चाट-चाट
क्षण भर में गिरते रूण्डों से,
मदमरत गजों के झण्डों से
घोड़ों के विकल्प वितुण्डों से,
पट गई भूमि नर मुण्डों से॥"

इस उदाहरण में गौड़ी रीति या पुरूषावृति की सभी विशेषताएं मिलती है।

3. **पांचाली रीति** - यह वैदर्भी और गौड़ी के मध्य की रीति है। कुछ आचार्यों ने इसे मध्यम नाम से भी सम्बोधित किया है। यह मन्दवाहिनी सरिता की तरह प्रवाहित होती है। अनति दीर्घ समास, पादानुप्रास अनतिस्फुट-बन्धन तथा औज और क्रान्ति गुण समन्वित इसके मुख्य लक्षण है। इसमें सुकुमार वर्णो की प्रचुरता होती है। सरस्वती कण्ठा भरणकार भोज ने लिखा है।

"समस्त पंचषपदाभोजरू कान्ति विवर्जिताम।
मधुरां सुकुमारा च पांचाली कवयों बिदु:॥"

भोज के कथन के अनुसार भी माधुर्य सौन्दर्य तथा क्रान्ति इस रीति के अन्तर्गत गुण है। उदाहरणार्थ ये पंक्तियाँ देखिये।

"अनियारे दीरद्य नयनि,
कितो न तरूनि समान।"

आचार्य दण्डी ने गुण एवं रीति को अभिन्न माना है। आचार्य वामन ने इस सम्बन्ध को रीति को गुणमयी रचना कहकर और भी दृढ़ कर दिया उनके मत से।

"विशिष्टापद रचना रीति:।
विशेषों गुणात्मा।"

आचार्य आनन्दवर्धन ने रीति और गण के सम्बन्ध को स्पष्ट करने के लिए निम्नलिखित तीन प्रश्न उठाएं हैं।

(१) क्या गुण रीति से अभिन्न है?

(२) क्या गुण रीति के आश्रित है?

(३) क्या रीति गुण के आश्रित है?

इन प्रश्नों का स्वयं ही उत्तर रूप में प्रतिपादन करते हुए उन्होंने स्पष्ट किया है कि न तो गुण रीति से अभिन्न है और न उसके आश्रित, क्योंकि ऐसा होने से गुणों का रीति के समान अनियम विषय - विस्तार हो जायेगा। उदाहरणस्वरूप करूण और विप्रलम्भ श्रृंगार में माधुर्य

और प्रसाद प्रकर्ष प्राप्त करते हैं। तथा रौद्र एवं अद्‌भुत में ओज। इस तरह गुणों का विषय निश्चित है, लेकिन रीति का सही क्योंकि श्रृंगार तथा करूण रस में भी पद - रचना दीर्घसमासा हो सकती है। एवं रौद्र और वीभत्स में अल्प समासा या असमासा। अस्तु गुण न तो रीति से अभिन्न है और न ही उसके अधीन।

वस्तुत: आचार्य आनन्दवर्धन का यह अभिमत कि गुण रीति से भिन्न है, मुक्ति युक्त है, क्योकि रीति पद- रचना है, जबकि गुण उसको अनुप्रमाणित करने वाला तत्व है।

गुण, रीति के आश्रित नहीं है, इस अभिमत में पूर्ण सत्य न होकर आंशिक सत्य है। उनका कथन सत्य है कि रीति का अनियत विषय है, जबकि गुणों के विषय निश्चित है। यह कथन भी सत्य है कि श्रृंगार रस में गुण तो माधुर्य एवं प्रसाद ही होंगे, लेकिन रचना दीर्घ समासा हो सकती है, किन्तु रीति में भी है। अत: वर्णों का विषय इतना अनियत नहीं हो सकता, यह ठीक है कि समासा बहुला पदावली तथा कठोर वर्णो के प्रयोग में भी श्रंगार आदि रसों का परिपाक सम्भव है किन्तु इसके प्रयोग से उसके परिपाक में किसी हद तक व्यवधान अवश्य ही उपस्थित होता है। इसी प्रकार समस्त पदावली तथा कोमल वर्ण योजना होगा तथा करूण रस के परिपाक में सहायक है। अस्तु, रीतिगुणों के आश्रित है, क्योंकि शबद - गुम्फ तथा वर्ण गुम्फरूपिणी पद - रचना का स्वरूप माधुर्य, ओज आदि गुणों के द्वारा ही निर्धारित होता है। इसके साथ यह भी मानना होगा कि गुण भी रीति से प्रभावित होता है, क्योंकि वर्ण गुम्फ तथा शब्द गुम्फ चित की द्युति, दीप्ति तथा परिव्याप्ति भी निश्चय ही साधक अथवा बाधक हो सकती हैं।

3.6 रीति और शैली

रीति शब्द का प्रयोग काव्यशास्त्रियों द्वारा पद-रचना के लिए ही रहा, पर शैली का अर्थ है- "विशेष काव्य रचरा अथवा आभव्यंजना-पद्धति प्राचीन आचार्यों ने रीति के सामान्य रूपों का ही निरूपण किया है और उसके द्वारा विवेचित गुण भी समान्य गुण कहे जा सकते हैं। उन्होने परम्परागत दस गणोंकृप्रसाद, ममता, माधुर्य, सौकुमार्य, अर्थव्यक्ति, औदार्य, ओज क्रांति, समाधि और श्लेष का वर्णन किया है। किन्तु शैली से वि-स्वभाव का तादात्म्य स्थापित हो गया। शैली शब्द शील से बना है। इसका अभिप्राय ऐसे कार्यकृढंग से है जिससे कर्ता के स्वभाव रूचि, शील प्रकृति, चरित्र मनोवृत्ति आदि का परिचय मिले। अभिव्यंजना पद्धति के अर्थ में भी इनका प्रयोग होता है जो अंग्रेजी शैली का लेखक के व्यक्तित्व से घनिष्ट संबंध है। शैली का अभिव्यंजना--प्रणाली तो माना गया साथ ही यह भी स्वीकार यिका है कि लेखक की शैली उसका निजी प्रयास जैसेकि प्राचीन आचार्य दण्डी भी स्वीकार करते हैं, उसमें उसके निजी विचार भावानाऐं रूचि, स्वभाव आदि उसका निजीपन उसके लेखन ढंग से प्रकट होता है लुई डुण्डेल ने शैली को कलाकार का व्यक्तित्व कहा है जिसे वह कला या भाषा का प्रसाधन तत्वों या योजना द्वारा अभिव्यक्त करता है।

"जलसम पे जीम चमतेवदंसपजलें जीम तंजपेजीवूपदह जीतवनही उमकपपउ मसमउमदजे दक वतहंदप्रजपद्दश"

किंतु मरों महोदय ने शैली को भाषा का विशिष्ट गुण व रूप बताया है - ऐसा गुण जो रचियता के भावों और विचारों को अच्छी तरह सम्प्रेषित करता है

"जलसम पे नंसपजल वसिदंहनहमूपबी बवउउपदपवंज मेग चतमबपेमसल मउवजपवदे वत जीवनहीजे जीम नजीवतर"

टिप्पणी

1. शैली के गुण

रीति के समान शैली के भी सरलता, स्पष्टता, स्वाभाविकता, विषयानुकूलता, भावानुकूलता, प्रसंग-पात्रनुकूलता प्रवाहात्मकता, नाद-सौन्दर्य, स्वाभाविकता अलंकृति, संगीत्मकता, व्याकरणदि की निर्देषिता, मधुरता, अर्थ-गौरव, प्रीविष्णुता संघटन, समुचित छन्द विधान, प्रबन्धात्मता, चारू शब्द चयन, काव्य-आदि गुण है। इस दृष्टि से शैली के अनेक भेद होते हैं।

शैली में लेखक का व्यक्तित्व दो प्रकार से होता है-रचयिता की अभिव्यंजना प्रणाली की विशिष्ट रूप और उसके चरित्र या स्वभाव तथा रूचि-अरूचि यानी व्यक्तित्व की शैली पर स्पष्ट छाप।

साहित्यक शैली का वास्तविक स्वरूप उसमें व्यक्तित्व की प्रतिष्ठ से ही प्रकट होता है। इसलिए शैली काव्य अथवा साहित्य का अनिवार्य तत्व हे।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि शैली और रीति यद्यपि शाब्दिक रूप से एक-दूसरे के पर्यायवाची है। किंतु रूदार्थ की दृष्टि से रीति-विशिष्ट-पद रचना ही है, उसका कवि से कोई संबंध नहीं है, जबकि शैली में अभिव्यंजन पद्धति के साथ-साथ कवि का व्यक्तित्व भी समाविष्ट है।

2. रीति अथवा शैली का महत्व

रीति या शैली काव्य की अभिव्यंजना प्रणाली है। काव्य साहित्य की अभिव्यक्ति रीति द्वारा होती है। और बिना अभिव्यक्ति के मात्र अनुभूति से ही काव्य का अस्तित्व संभव नहीं है यही देखकर संभवत: आचार्य वामन ने रीति को काव्य की आत्मा स्वीकार किया। परन्तु रीति को काव्य की आत्मा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि रीति का अनुभूति-पक्ष से कोई संबंध नहीं है, वह काव्य का शरीर माना है। लेकिन हां, इसे आत्मा का पूरक अथवा एक दूसरे की अभिव्यक्ति का माध्यम अवश्य कहा जा सकता है। क्योकि जैसे काव्य की आत्मा रस बिना अभिव्यक्ति रीति का अस्तित्व ग्रहण नहीं कर सकती है उसी प्रकार आत्मा के बिना रीति का भी कोई अस्तित्व नही है अत: दोनो परस्पर अयोन्याश्रित है। अत: इसे काव्य की सम्प्रेणीयता का माध्यम ही कहा जा सकता है।

समग्रत: रीति सामान्य अभिव्यंजना पद्धति की द्योतक है और शैली से अभिप्राय ऐसी विशिष्ट अभिव्यंजना प्रणाली से है, जिसमें लेखक का व्यक्ति्व अनुस्यूत रहता है।

3.7 प्रश्न-उत्तर

लघु उतरीय प्रश्न

1. **आचार्य वामन एवं आचार्य आनन्दवर्धन के अनुसार बताई गई रीति की परिभाषा बताइये ?**
2. **आनन्दवर्धन एवं वामन की रीति परिभाषा की तुलना कीजिए ?**
3. **शैली के गुणों की व्याख्या कीजिए ?**
4. **वैदर्भी रीति की स्पष्ट व्याख्या कीजिए ?**
5. **मम्मट की रीति- विषय की परिभाषा का संक्षिप्त परिचय दीजिए ?**

विस्तृत उत्तरीय प्रश्न

टिप्पणी

1. **रीति शब्द की व्युत्पति पर प्रकाश डालिए। तथा रीति संबंधी विभिन्न काव्यशास्त्रियों के मत का विवेचन कीजिए?**
2. **विभिन्न आचार्यों द्वारा बताई गयी रीति सिद्धान्त की परिभाषाओं का संक्षिप्त वर्णन कीजिए?**
3. **रीति के विविध पर्याय बताइये अथवा रीति को काव्य की आत्मा मानने का अभिप्राय व इसका प्रमाण बताइये?**
4. **रीति के भेद बताइये?**
5. **रीति और शैली का घनिष्ट सम्बन्ध ज्ञात कीजिए। रीति अथवा शैली का महत्व बताइये?**

♦♦♦♦♦

इकाई 4

ध्वनि सिद्धान्त

संरचना

4.1 ध्वनि शब्द की व्युत्पति एवं ध्वनि सिद्धान्त का जन्म
4.2 ध्वनि सिद्धान्त की स्थापना
4.3 ध्वनि अथवा ध्वन्यालोक एक युग प्रवर्तक ग्रन्थ
4.4 ध्वनि का आधार स्वरूप एवं ध्वनि सिद्धान्त की परिभाषा
4.5 आधार और स्वरूप
4.6 ध्वनि की परिभाषा
4.7 ध्वनि और स्फोट सिद्धान्त
4.8 ध्वनि और शब्दशक्ति
4.9 ध्वनि के भेद
4.10 ध्वनि के ५१ भेद
4.11 रस ध्वनि
4.12 भाव ध्वनि
4.13 रसाभाव
4.14 भावाभास
4.15 ध्वनि के आधार पर काव्य के भेद
4.16 ध्वनि सिद्धान्त का महत्व
4.17 प्रश्न–उत्तर

4.1 ध्वनि शब्द की व्युत्पत्ति एवं ध्वनि सिद्धान्त का जन्म

भारतीय साहित्य में काव्य का प्रधान गुण ध्वनि माना गया है और ध्वनि सिद्धान्त ही ऐसा समीक्षा सिद्धान्त है जो रस सिद्धान्त की टक्कर में टिका हुआ है। अन्य सिद्धान्तों की भांति ध्वनि सिद्धान्त का जन्म भी उसके प्रतिष्ठापक अथवा सर्वप्रथम आनन्द वर्धनाचार्य ने नवम शब्दावली में, ध्वनि के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। स्वयं ध्वनिकार ने ही अपने पहले छन्द में इस तथ्य को स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है।

"काव्यस्यात्मा ध्वनिरित
बुधायर्रू समाम्नातपूर्वः"

अर्थात् काव्य की आत्मा ध्वनि है ऐसा मेरे पूर्ववर्ती विद्वानों का भी मत है वास्तव में इस सिद्धान्त के मूल संकेत उनके समय से बहुत पहले वैयाकरणों के सूत्रों में विस्फोट आदि के विवेचन में मिलता है। इसके अतिरिक्त भारतीय दर्शन में भी व्यंजना एवं अभिव्यक्ति (दीपक से घर) की चर्चा बहुत प्राचीन है। ध्वनिकार से पूर्व रस अलंकार और रीतिवाद आचार्य अपने-अपने सिद्धान्तो की पुष्टि प्रतिपादन कर चुके थे और यद्यपि वे ध्वनि सिद्धान्त से पूर्णतया परिचित नहीं थे, परन्तु फिर भी आनन्दवर्धन का कहना है कि कम से कम उनके सीमांत तक अवश्य पहुंच गये थे। अभिनवगुप्त ने पूर्ववर्ती आचार्यों में उद्‌भट और वामन को साक्षी रूप माना है। उद्‌भट का ग्रन्थ भामह - विवरण आज उपलब्ध नहीं है। अतएवं हमें सबसे प्रथम ध्वनि संकेत वामन के वक्रोक्ति विवेचन, में ही मिलता है।

"सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्ति"

लक्षणों में जहाँ सादृश्य गर्भित होता है, वहाँ वह वक्रोक्ति कहलाती है। सादृश्य की यह व्यंजना ध्वनि के अन्तर्गत आती है, इसलिए वामन को साक्षी माना गया है।

4.2 ध्वनि सिद्धान्त की स्थापना

विद्वानों का मत है कि त्वीं शताब्दी के मध्य में ध्वन्यालोक की रचना है। ध्वन्यालोक एक ही लेखक आनन्दवर्धन की कृति है, अथवा आनन्दवर्धन केवल कृतिकार थे, कारिका उनके पूर्ववर्ती या समसामयिक किसी अन्य आचार्यों ने रची है, इसी विषय पर पण्डितों के विभिन्न मत है। डॉ. बुद्धलर और उनके अनुसरण पर डॉ. डे तथा प्रोफेसर काणें आदि का मत है कि मूल ध्वनिकार और कृतिकार आनन्द वर्धन दो भिन्न व्यक्ति थे। उधार लु. शंकरन ने अनेक प्रकार के अन्तसाक्ष्य और बहिसाक्ष्य और बहिसाक्ष्य के आधार पर संस्कृत आचार्यों की मान्यता को स्वीकार करते हुए दोनों को एक माना है।

4.3 ध्वनि अथवा ध्वन्यालोक एक युग प्रवर्तक ग्रन्थ

ध्वनि अथवा ध्वन्यालोक एक युग प्रवर्तक ग्रन्थ था। उसके रचियता ने अपनी असाधारण मेधा के बल पर एक ऐसे सार्वभौम सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की जो युग तक सर्वमान्य रहा। अब तक जो सिद्धान्त प्रचलित थे वे प्रायः सभी एकांगी थे - अलंकार और रीति तो काव्य के बहिरंग को ही छूकर रह जाते थे, रस सिद्धान्त भी एन्द्रिय आनन्द के प्रति उदासीन था। इसके अतिरिक्त उसमें दूसरा दोष यह था कि प्रबन्ध काव्य के साथ तो उसका सम्बन्ध ठीक बैठ जाता था, परन्तु स्पष्ट छन्दों के विषय में विभाव अनुभाव, व्यभिचारी आदि का संघटन सर्वत्र न हो सकने के कारण कठिनाई पड़ती थी और प्रायरू अत्यन्त सुन्दर पदों को भी उचित गौरव न मिल पाता था। ध्वनिकार ने इन त्रुटियों को पहचाना और सभी का उचित परिहार करते हए शब्द की तीसरी शक्ति व्यंजना पर आश्रित ध्वनि को काव्य की आत्मा घोषित किया। ध्वनिकार ने अपने सामने दो निश्चित लक्ष्य रखे है।

टिप्पणी

(१) ध्वनि सिद्धान्त की नियन्ति शब्दों में स्थापना करना तथा यह सिद्ध करना कैरि सिद्धान्त के अन्तर्गत उसका समाहार नहीं हो सकता।

(२) रस, अलंकार, रीति, गुण और दोष विषयक सिद्धान्तों का सम्यक् परीक्षण करते हए ध्वनि के साथ उनका सम्बन्ध स्थापित करना और इस प्रकार काव्य के एक सवोगपूर्ण सिद्धान्त की रूपरेखा बांधना। कहने की आवश्यकता नहीं है कि इन दोनो उद्देश्यों की पूर्ति में ध्वनिकार अपने वृति-लेख पर भी अपनवृति-लेख पर आनन्दवर्धन की सहायता से सर्वथा सफल हुए है।

4.4 ध्वनि का आधार स्वरूप एवं ध्वनि सिद्धान्त की परिभाषा

ध्वनिशास्त्र, में ध्वनि शब्द की व्युत्पति निम्नलिखित तीन प्रकार से की गई है।

ध्वनि इति, अर्थात् जो व्यंग्य अर्थ को प्रकाशित करता है।

ध्वन्यते, इति, अर्थात वह अर्थ जो व्यंजित होता है।

ध्वनम् इति, अर्थात् शब्द और अर्थ का वह व्यापार जिससे व्यंग्य अर्थ की प्रतीति होती है। इस विविध युत्पति के आधार पर ध्वनि का व्यवहार निम्नलिखित पाँच अर्थों में किया गया है।

१. व्यंजक शब्द

२. व्यंजक अर्थ

३. व्यंजना व्यापार

४. व्यंग्य अर्थ तथा इन सबका समाष्टगत वह काव्य, जिसमें वाच्य की अपेक्षा व्यंग्य अधिक चमत्कार पूर्ण होता है। ध्वन्यालोक ११३ पर लोचन में इसे इस प्रकार दिया है।

"अर्थो वा शब्दों वा व्यापारों वा।
अर्थोअपिवाच्यों वा ध्वनीति शब्दोष्येवम।
व्यंग्यों वा ध्वन्यत इति।
व्यापारों वा शब्दार्थयो ध्वनिनमिति।
कारिकया तु प्राधान्येन समदाय
एवं काव्यरूपों मुख्यताया ध्वनिरिति प्रतिपादित।।"

4.5 आधार और स्वरूप

ध्वनिकार ने अपने सिद्धान्त का आधार वैयाकरणों के स्फोट से ग्रहण किया है। जिसके द्वारा अर्थ का प्रस्फुटन स्फोट है। यह स्फोट, शब्द वाक्य और समस्त प्रबन्ध तक का होता है। शब्द स्फोट का एक उदाहरण लीजिएक् "इन तीनों वर्गों में से गौरू का अर्थ-बोध किसके द्वारा होता है? यदि यह कहें कि प्रत्येक वर्ण के उच्चारण द्वारा तो एक वर्ण ही पर्याप्त होगा। शेष दो व्यर्थ है। और यह कहें कि तीनों वर्गों के समुदाय के उच्चारण द्वारा तो वह असम्भव्य है, क्योंकि कोई भी वर्ण ध्वनि दो क्षण से अधिक नहीं ठहर सकती, अर्थात विसर्ग तक अति-अति ग् की ध्वनि का लोप हो जायेगा, जिसके कारण तीनों वर्णो के समुदाय की ध्वनि का एक साथ होना सम्भव न हो सकेगा। अतएवं अत्यन्त सूक्ष्म विवेचन के उपरान्त वैयाकरणों ने स्थिर किया है कि अर्थबोध शब्दों में स्फोट द्वारा होता है-अर्थात् पूर्ण वर्णो के संस्कार अन्तिम वर्ण के उच्चारण के साथ संयुक्त होकर शब्द का अर्थबोध कराते है, यही स्फोट है, जिसका दूसरा नाम ध्वनि भी है।

जिस प्रकार पृथक-पृथक वर्णो की आवाज सुनकर भी अर्थबोध नहीं होता वह केवल स्फोट या ध्वनि के द्वारा ही होता है, इसी तरह शब्दों का वाच्यार्थ ग्रहण करके भी काव्य के सौन्दर्य का अनुभव नहीं होता-वह केवल व्यंग्यार्थ या ध्वनि द्वारा ही होता है। शब्द-साम्य और व्यापार-साम्य के आधार पर इस प्रकार स्फोट से प्रेरित होकर ध्वनिकार ने अपने ध्वनि सिद्धान्त की उदभावना की। जैसे घण्टे पर चोट लगान टंकार होती है और उसमें से मीठी झंकार ध्वनि निकलती है. उसी प्रकार वाच्यार्थ को टंकार और व्यग्याथ का झंकार समझना चाहिए।

4.6 ध्वनि की परिभाषा

आचार्य आनन्दवर्धन ने ध्वंन्यालोक (१११३) में ध्वनि की परिभाषा इस प्रकार की है।

"यत्रार्थः शब्दों वा तमर्थमुपसजर्नाकृत स्वार्थो
व्यक्त काव्यविशेषः स ध्वनिरित सूरिभिः कथितः॥"

अर्थात जहाँ अर्थ स्वयं को तथा शब्द अपने अभिधेय अर्थ को गौण करके, उस अर्थ को, प्रकाशित करते है, उस काव्य विशेष को विद्वानों ने ध्वनि कहा है। अपनी प्रस्तुत की गई परिभाषा की व्याख्या आचार्य आनन्द ने निम्नलिखित शब्दों में की है

"यत्रार्थो वाच्यविशेषों वाचक विशेषः
शब्दों वा तमर्थ व्यडक्तः
स काव्यविशेषों ध्वनिरिति।"

अर्थात जहाँ विशिष्टं वाच्य रूप अर्थ तथा विशिष्ट वाचक रूप शब्द उस अर्थ को प्रकाशित करते हैं, वह काव्य-विशेष ध्वनि कहलाता है। आचार्य का उस अर्थ से तात्पर्य व्यंग्यार्थ या प्रतीयमान अर्थ से है। यह प्रतयमान अर्थ कुछ और ही चीज है, जो रमणियों के प्रसिद्ध मुख, नेत्र, श्रति, नासिकादि अवयवों से भिन्न उनके लावण्य के समान महाकवियों की सूक्तियों में (वाच्य अर्थ से) अलग ही होता है।

अस्तु डॉ. नगेन्द्र के शब्दों में-
ध्वनि का अर्थ है - व्यंग्य परन्तु पारिभाषिक रूप में यह व्यंग्य वाच्यातिशयी होना चाहिये।

"वाच्यातिशयिनी व्यंग्य ध्वनिः" (साहित्यवादी)

इस अतिशय अथवा प्राधाय का आधार है चारूत्व अर्थात् रमणीयता का उत्कर्ष

"चारूत्वोत्किर्षबिन्धना हिवाच्यत्यड्योः
प्राधान्य-विवक्षाश् (ध्वन्यालोक)"

अतएव वाच्यातिशयी का अर्थ हुआ वाच्य से अधिक रमणीय और ध्वनि का संक्षिप्त लक्षण हुआ।

"वाच्य से अधिक रमणीय व्यंग्य को ध्वनि कहते है।"

जहाँ प्रत्यक्ष वाच्य अर्थ में से कोई दूसरा ही सुन्दर अर्थ निकले और वह नया अर्थ उसके प्रत्यक्ष या वाच्य अर्थ की अपेक्षा अधिक चमत्कार पूर्ण हो वहीं ध्वनि है और इस प्रकार के ध्वन्यों से भरा हुआ काव्य ही ध्वनि काव्य कहलाता है जिसे मम्मट ने सर्वश्रेष्ठ प्रकार का काव्य बतलाया है।

"इदमुतममतिशयिनि व्यंग्येवाच्याद
ध्वनिः बुधैः कथितः॥"

उपयुक्त आधार पर आचार्यों ने दो प्रकार के अर्थ माने है।

(१) वाच्य जिसके अन्तर्गत अलंकार आदि सब आ जाते है।

(२) प्रतीयमान अर्थ जिसके अन्तर्गत ध्वनि आती है।

टिप्पणी

आचार्यो का कहना है कि जो व्यक्ति काव्य में वास्तविकता देखना चाहे उसे यह प्रतीयमान जान पड़ने वाला अर्थ भांति-भांति प्रकट हो जाता है जैसेकृकिसी सुन्दरी के शरीर में सब अंग और अवयव रहते हुए भी लावण्य या सुन्दरता उनसे भिन्न प्रतीत होती है उसी प्रकार के सब अंगों से अलग एक विभिन्न विचित्र निराले, चमत्कारपूर्ण प्रतीयमान की उपस्थिति भी रहती है। यद्यपि आदि कवि वाल्मीकि के समय से ही सब कवि अपने काव्यों में इस ध्वन्यार्थ का प्रयोग करते चले आ रहे थे तथा इस ध्वनि को काव्य की आत्मा ध्वनिरात्मा काव्यस्य बताकर उसे एक पृथक स्वतन्त्र काव्य तत्व के रूप में स्थापित करने का श्रेय आनन्द वर्धन को ही हैं।

4.7 ध्वनि और स्फोट सिद्धान्त

कुछ भी बोलने पर पहले उसकी शब्द ध्वनि सुनाई पड़ती है और तत्पश्चात् उसका अर्थ प्रतीत होता है। अतः स्फोट और ध्वनि का व्यंग्य व्यंजक संबंध है अर्थात् ध्वनिया अर्थ बताने वाली या व्यंजक है और स्फोट ध्वनि बताया जाने वाला अर्थ या व्यंग्य है। अर्थात् ध्वनियों के सहारे स्फोट प्रकट या अभिव्यक्त होता है। भर्तृहरि ने 'वाक्य प्रदीप' में लिखा है।

"स्फोटस्य ग्रहणे हेतुः प्राकृतद ध्वनिरिष्यते।"

अर्थात प्राकृतिक ध्वनियों से ही स्फोट का ज्ञान होता है अर्थात् प्रत्येक ध्वनि स्फोट का रूप बताने में सहायक होती है। वाक्य प्रदीप के टीकाकार पुष्पराज ने इसीलिये प्रत्येक ध्वनि को सार्थक बताते हुए लिखा है कि

"प्रत्ययैरनु आख्येये गीहणनुगुणौस्तथा
ध्वनि प्रकाशितें शब्दें स्वरूप्य वधर्यते।।"

वस्तुतः भर्तृहरि ने शब्द ब्रह्म को अनादि अलौकिक अत्यन्त ब्रह्म माना है। वही ब्रह्म अविद्या के कारण अलग होकर अर्थ का ज्ञान कराता है। अर्थात् अर्थ में रूप प्रकट होता है। 'वाक्य प्रदीपश् में इसका विवेचन करते हुए उन्होने लिखा है।

"अनादि निधन ब्रह्म शब्द तत्व यद्रक्षरम
विवर्ततेंभावेन प्रक्रिया जगतो यतः।"

इस सम्पूर्ण विवेचन का तात्पर्य यह है कि वाक्य में ही अर्थ रहता है अर्थात् वाक्य स्फोट ही मुख्य है, उसी का अर्थ जाना जाता है कभी-कभी जब हम केवल 'हां' 'हूं' करते है तब भी उसमें पूरा अर्थ ही सनिहित रहता है। अतः भाषा में वर्ण या पद की महता न होकर वाक्य को ही प्रधानता होती है। इससे स्पष्ट है कि जो भी शब्द हम बोलते है और जिसमें अर्थ निकलता है वही स्फोट है। इस अर्थ को प्रकट करने का काम वही शब्द करते है जिसे हम उच्चारण करते हैं यही ध्वनि है। व्याकरण में ध्वनि तो केवल उस शब्द को ही कहते है जो शब्द की अभिव्यंजना करने वाले शब्द और अर्थ दोनो के लिये ध्वनि शब्द का प्रयोग किया जाने लगा।

4.8 ध्वनि और शब्दशक्ति

उद्भव अनुरणनदृध्वनि जहाँ वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ का बोध कराने के लिए किसी शब्द विशेष का प्रयोग आवश्यक होता है वहां व्यंग्यार्थ बोधक शक्ति उसी शब्द विशेष में निहित रहती है उसके पर्यायवाचा शब्द में नहीं, वहाँ शब्दशक्ति उद्भव अनुरणन-ध्वनि मानी जाती है जैसे -

"जहाँ कटा फटा हो मेरा अंबर अशून्य है आली।
आकर किसी अनिल ने यहाँ धूलि तो डाली।।"

यहाँ व्यंग्यार्थ निकलता है। इनके स्थान पर इनके पर्यायवाची शब्द रखने से नहीं। यहाँ पद्‌गत अलंकार ध्वनि है। क्योंकि इन पदों से व्यतिरेक अलंकार व्यंजित होता है।

4.9 ध्वनि के भेद

ध्वनि के प्रमुख दो भेद माने गये है।

1. **अविवक्षित वाच्य ध्वनि या लक्षणा मूलाध्वनि**

   अविवक्षित वच्य में वाच्यार्थ की विवक्षा (आवश्यकता) नहीं रहती, वह बाधित हो जाता है अर्थात इस ध्वनि में वाच्यार्थ अनुपयोगी होने के कारण अविवाक्षित अवांछनीय रहता है क्योंकि यह लक्षण पर आधारित रहता है। अतः इसे श्लक्षणामूला ध्वनिश् भी कहते हैं। इस ध्वनि में केवल प्रयोजनावती लक्षण रहती है, रूढ़ा नहीं रहती, क्योकि रूढ़ा लक्षणा में व्यंग्यार्थ अत्यन्त स्पष्ट होने के कारण महत्वहीन हो जाता है और वह होते हुए भी न होने के बराबर होता है। अविविक्षित वाच्य ध्वनि का यह उदाहरण दृष्टय है।

   "कौध्र सी ऐढ़ीन की लाली देखि सुभाय।
   पाय महावर देय को आप भई बेपाई।"

   यहाँ पर बेवाई शब्द के आधार पर यह ध्वनि है। बेवाइ शब्द का अभिप्राय नायक का पैर रहित हो जाना या उसके पैर कट जाना बाधित हो जाता है और उससे अन्य अर्थ नायन का आश्चर्य निकलता है जिससे नायिका के पैरों की अप्रतिम लालिमा ध्वनित हो रही है। इस ध्वनि का चमत्कार वाच्यार्थ के आधार पर तथा लक्ष्यार्थ के आधार पर होता है। अतः इसके दो प्रमुख उपभेद माने गये है।

   (१) अर्थान्तर संक्रमित अविवक्षित वाच्य-ध्वनि,

   (२) अत्यन्त तिरस्कृत अविवक्षित वाच्य-ध्वनि

   अर्थान्तर संक्रमित अविवक्षित वाच्य ध्वनि -

   इस ध्वनि में वाच्यार्थ अर्थात मुख्य अर्थ किसी दूसरे अर्थ में बदल जाता है यथा -

   "घर-घर हिंदुन तुकेनी देत असीस सराह।
   पतिन राख चादर चूरीतेव राखी जयसाहा।।"

   इस दोहा में पतियों की रक्षा करके हे जयशाह। आपने उनकी चादर और चूड़ियों की रक्षा कर ली. यह अर्थ रहते हुए भी अन्य अर्थ आपने कितनी ही नारियों को विधवा होने से बचा लिया। इस अन्य अर्थ में संक्रमण कर जाता है। इसका एक अन्य उदाहरण भी द्रष्टव्य है।

   "हाय छिनी भूखों की रोटी
   छिना नग्न का अर्द्ध वमन है।
   मजदूरों के कौर छिने है,
   जिन पर उनका लगा दसन है।"

   यहाँ पर मुख्य अर्थ भूखों की रोटी छिनना उनके वसन छिनना भी रहता है, किन्तु यह अन्य अर्थ में मजदूरों पर होने वाले अत्याचार में संक्रमण कर जाता है।

   जैसे एक अन्य उदाहरण से स्पष्ट होता है:

   वर्षा काल में जानकी जी के वियोग में राम कहते हैकृ मै राम हूं, मै तो दुख सहूंगा ही, पर जानकी कैसे सहेगी। इसमें राम हूँ का मुख्य अर्थ बदलकर हुआ "मैं तो कठोर हृदय हूँ।"

टिप्पणी

अत्यन्त तिरस्कृत अविवक्षित वाच्य ध्वनि:

ध्वनि में वाच्यार्थ का सर्वथा त्याग या तिरस्कार होता है वहाँ अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य-ध्वनि होती है। यह लक्षण लक्षणा पर आधारित रहता है जैसे

"बाई कृपा मूरति अनुकूला।
बोलत बचन झरत जनु फूला।
जे पै कृपा जरै मुनि गाता।
क्रोध भए तन राख विधाता।"

यही भी दो प्रकार का होता है - (क) पदगत (शब्दों में) (ख) अर्थगत (अर्थ में)

2. अभिधामूल या विवक्षिताय पर वाच्य-ध्वनि

जिस ध्वनि के अन्तर्गत वाच्यार्थ की विवक्षा आवश्यकता हो अर्थात् वांछनीय और प्रयोजनीय हो और साथ ही वह व्यंग्यपरक या व्यंग्य-निष्ठ हो वह विवक्षितान्य पर वाच्य ध्वनि है। इस ध्वनि के अन्तर्गत व्यंग्यार्थ पर आश्रित रहता है।

अन्य अर्थो में इसमें वाच्य अर्थ की भी आवश्यकता रहती है किन्तु वह दूसरे के अर्थात् व्यंजना के सहारे चलता है। इसमें पहले वाच्य अर्थ निकलता है उसके पश्चात् व्यंग्य अर्थ निकलता है किन्तु यह क्रम तो स्पष्ट जान पड़ता है, कहीं कही नहीं जान पड़ता अत: इसके भी दो भेद हो जाते है।

संलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि

इसे अणुरणन ध्वनि भी कहा जाता है। जिस प्रकार घण्टे पर चोट करने से प्रथम टंकार के बाद क्रमष: ध्वनि सूक्ष्म रूप से स्पष्ट सुनाई देती है उसी प्रकार से इस ध्वनि में भी वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ स्पष्ट होता है। इसके तीन भेद माने गये है।

(१) शब्दशक्ति उद्‌भव अनुरणन ध्वनि (२) अर्थशक्ति उद्‌भव अनुरणन ध्वनि और शब्दा. र्थशक्ति (३) उद्‌भव अनुरणन ध्वनि।

(1) शब्दशक्ति उद्‌भव अनुरणन ध्वनि - इसके पदों से व्यतिरेक अलंकार व्यंजित रहता है। इस ध्वनि के चार भेद है।

१. पदगत वस्तु - ध्वनि

२. वाक्यगत वस्तु - ध्वनि

३. पदगत अलंकार - ध्वनि

४. वाक्यगत अलंकार - ध्वनि

(2) अर्थशक्ति उद्‌भव अनुरणन - ध्वनि-जहाँ पर वाच्यार्थ निकलने पर फिर व्यंग्यार्थ का बोध होता है और वह अर्थबोध किसी शब्द विशेष पर आश्रित नहीं रहता है इसके तीन भेद है।

१. स्वत: सम्भव

२. कवि-प्रौढ़ोक्तिसिंह

३. कवि-निबद्ध पात्र-प्रौढ़क्तिसिंह

इनमें से प्रत्येक के चार भेद है वस्तु से वस्तु अलंकार, अलंकार से वस्तु और अलंकार से अलंकार और इनमें भी प्रत्येक के तीन तीन भेद होते है– प्रबन्धगत, पद्गत और वाक्यगत। ऐसी दशा में ध्वनि का व्यापक भेद – विस्तार है। इनमें से कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते है। पद्गत अलंकार से अलंकार ध्वनि

"निशि गई मोती सजाकर
छाए फूलों में लगाकर
लाज से गल जायेंगे
मत पूछ इनसे मोल री।"

यहाँ पर मोती शब्द के कारण रूपकातिश्योक्ति अलंकार है और आगे यह स्पष्ट है कि ये मोती साधारण तो नहीं वरन लाज से गढ़ जाने वाले विशिष्ट मोती है। अत: व्यतिरक अलंकार सिद्ध होता है। अत: यहाँ पर रूपकातिश्योक्ति से व्यतिरेक अलंकार सिद्ध होता है। यह अलंकार से अलंकार ध्वनि है। स्वत: सम्भवी पट गत अलंकार से वस्तु

"जिन प्राणों से लिपटी हो
पीड़ा सुरभित चंदन सी
तूफानों की छाया हो
जिसको प्रिय आलिंगन सी।"

यहाँ पर चंदन के समान पीड़ा और आलिंगन के समान तूफानों की छाया कहने से उपमा अलंकार है जिसके सहन शक्ति और साहस का गुण व्यंजित होता है। अत: अलंकार से वस्तु ध्वनि है। स्वत: संभवी प्रबंधगत वस्तु से वस्तु ध्वनि –

"फांग की भीर अमीरन की गहि
गोविन्द लेगई भीतर गोरी।
भाई करी मन की पधाकर
पर नाई अबीर की झोरी
छोरी पितंबर कस्मर ते सुविदा दई मीड़ि कपोलन रोरी।
नैन नचाय कही मुसुकाय
लला फिर आइयो खेलन होरी।।"

यहाँ पर पूरे छंद में यह ध्वनि निकलती है कि कृष्ण को ऐसा रंग दिया कि फिर से होली खेलने के लिए आने का नाम वे लेंगे, अत: यहाँ स्वत: संभवी प्रबन्धगत वस्तु से वस्तु ध्वनि है।

कवि- प्रौढोक्ति सिद्ध पद्गत वस्तु से वस्तु-ध्वनि

जहाँ कवि – प्रौढ़क्ति के द्वारा कोई बात स्पष्ट होती है वहाँ यह ध्वनि मानी जाती है जैसे

"सिय वियोग दुख केहि विद्य बहौ बखानि।
फूल बान से मनसिज वेधत आनि।।"

यहाँ काम का फूलों का बाण है, यह कवि-प्रोढ़क्ति से सिद्ध होता है और विरह दुख से इतनी व्याकुल है कि पुष्पबाण से विध जाती है। इसके द्वारा विरह की दशा और प्रेम का आध्य्य व्यंग्य है इसीलिये कवि प्रौढ़ोक्त सिद्ध पद्गत वस्तु से वस्तुत-ध्वनि है।

असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य-ध्वनि

जहाँ वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ के प्रतीत होने का क्रम भली प्रकार न जाना जाए जैसे बहुत सी कमल की पंखुड़ियों को एक साथ तकुए से बेधा जाए तो सब खुद से विंध जाते हैं उनके विधने का क्रम

टिप्पणी

नहीं जाना जाता है वैसे ही इसमें भी वाच्य और व्यंग्य अर्थ इतनी तीव्र गति से प्रकट हो जाते हैं कि यही नहीं प्रतीत होता है कि पहले वाच्य अर्थ प्रतीत हुआ या व्यंग्य अर्थ इस प्रकार स्पष्ट होता है कि जहाँ पर वाच्यार्थ के उपरान्त व्यंग्यार्थ ग्रहण करने का क्रम लक्षित नहीं होता। इस वाच्यार्थ व्यंग्यार्थ के अनुक्रम का ज्ञान नहीं होता और वाच्यार्थ के ग्रहण करते ही हम व्यंग्यार्थ से से अभिमत हो जाते है। इसे असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य-ध्वनि कहते हैं। ध्वनिकार ने रस और भाव को व्यंग्य माना है अतः भाव और रस इसी ध्वनि के भीतर आते है। इसके आठ भेद माने गये है।

१. रस २. भाव

३. रसभव ४. भावाभास

५. भावोदय ६. भावसंधि

७. भावशांति 8. भाव सबलता

ये सभी असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि के भेद है। इस प्रकार ध्वनि के ५१ भेद माने गये हैं जो नीचे तालिका से स्पष्ट हो जायेंगे।

4.10 ध्वनि के ५१ भेद

ध्वनि के 51 भेद

लक्षणा मूला (अविवक्षित वाच्य ४ भेद) अभिधा मूला विवक्षित अन्य ४२ वाच्य ४७ भेद

अर्थान्तर समित वाच्य अत्यन्त संलक्ष्य क्रम व्यंग्यार्थ ६ भेद

तिरस्कृत वाच्य

पदगत वाक्यगत शब्दशक्ति अर्थ शक्ति असंलक्ष्य क्रम व्यंग्य ६ भेद

पद्गत अद्भव अनुरणन उद्भव उभय

वाक्यगत

प्रबन्धगत

पद्यांशगत

वर्णगत

रचनागत

वस्तु व्यंग्य अलंकार व्यंग्य स्वतः व्यंग्य कवि निबद्ध समवी प्रौदक्ति

पदगत वाक्यगत प्रौढोनिम

वस्तु से वस्तुव्यंग्य वस्तु से अलंकार व्यंग्य अलंकार से वस्तु व्यंग्य अलंकार से अलंकार व्यंग्य

प्रबन्धगत वाक्यगत पद्गत

4.11 रस ध्वनि

जहाँ वर्णन से रस व्यंग्य हो वहां पर रस ध्वनि होती है जैसे

"पलंग पीठ तजि गोद हिंडोरा।
सिय न दीन पग अवनि कठोरा॥
जियन भूरि जिमि जोगवतः रहेउं।
दीप बाति नहिं बाति नहिं ठारत कहेउं॥
सो बन बसिहि तात केहि भांती।
चित लिखित कपि देखि डराती॥
जो सिय भवन रहै कह अंबा।
मो कहं होय बहुत अवलम्बा॥"

यहाँ पर वाच्यार्थ के साथ व्यंग्यार्थ रूप रस का प्रभाव प्रकट है। आलम्बन सीता है उद्दीपन उनकी सुकुमारता, स्निधता, भीरूता, अल्पत्यस्कता आदि है। स्थायी प्रिय के अनिष्ट के कारण शोक है। संचारी, चिन्ता, मोह, स्मरण, तक्र, दैन्य आदि है। अनुभाव, आशंका दैवनिन्दा, कथन आदि है। इस प्रकार करण रस की अभिव्यक्ति यहाँ है।

4.12 भाव ध्वनि

जहाँ पर अपुष्ट स्थायी अथवा प्रमुखता से प्रकट संचारी भाव का प्रकाशन होता है, वहाँ भाव ध्वनि है, जैसे

"कर कुठार मै अकरून कोही।
आगे अपराधी गुः द्रोही॥
उतर देत छांडौ बिनु मारें।
केवल कौशिक षील तुम्हारे॥
नतु यहि काटि कठोरे।
गुरूहि उरिन होतेर श्रम थोरे॥"

यहाँ पर आलम्बन अनुभाव, संचारी आदि के होते हुए भी विश्वामित्र के शील के कारण क्रोध स्थायी मान बनकर रह गया। उद्दीप्त होकर पूर्ण परिपाक को प्राप्त नहीं हो सका।

4.13 रसाभाव

जब रस के परिपाक होते हुए भी सहृदय जनों की दृष्टि में उसमें किसी प्रकार अनौचित्य हो, वहाँ पर रसाभाव होता है, जैसे श्रृंगार में पर- स्त्री प्रेम, पर - पुरूष रतिभव, एकांगी प्रेम, पशुपक्षी आदि का प्रेम वर्णन। यह रस दोष है परन्तु अभास रूप में भी आनन्दायक होने के कारण इसे ध्वनि के भीतर माना जाता है। निराला की जुही की कली बालकाण्ड में शंकर की तपस्या भंग करने में काम के प्रभाव का वर्णन ऐसे ही उदाहरण है। इसी प्रकार अन्य रसों में भी अनौचित्य हो जाने से रसाभाव होता है।

जैसे- वीर रसाभाव का एक उदाहरण है।

"उठि उठि पहिरि सनाह अभागे।
जहं तहं गाल बजावन लागे॥
लेहु छुडाय सीय कह कोउ।
धरि बांधौ नृप बालक दोउ॥

तोरे धनुष काज नहि सरई।
जीवन हमहिं कहु करहिं बरई॥
जौ बिदेह कहु करहिं सहाई।
जीतहु सुमर सहित दोउ भाई॥"

यहाँ पर धनुष को न उठा सकने वाले पराजितो का राम के प्रति युद्ध करने का यह उत्साह अनुचित रसाभाव है।

4.14 भावाभास

जहाँ भाव निरूपण में कोई अनौचित्य होता है, वहां भावाभास माना जाता है जैसे -

"नृत्यत कैसे मोर पे लय
गति परम विचित्र
कैसे कढ़ति मृदंगते
महा मधुर ध्वनि मित्र॥"

यहाँ पर चिन्ता या जिज्ञासा व्यर्थ है इसलिए भावाभास है।

1. **भावोदय**

   जहाँ किसी प्रसंग में भाव के उदय होने से चमत्कार हो जैसे -

"देखि री देखि अली
संग जाई घौ कौन का घर में बिरति है
आनन मोरि के नैनन जोरि
अवै गई ओझल के मुसकाति है॥
दस जू जा मुख जोति लखै ते
सुधारघर जोति खरी संकुचाति है।
आगि लिए चली जाति सुमरै
हिए विच आगि दिए चली जाति है।"

   इसमें उत्काण्ठा अरि स्मरण के बाद प्रेम का उदय चमत्कारपूर्ण है।

2. **भावसंधिः**

   जहाँ दो भावों के सम्मिलन का चमत्कार होता है वहाँ भाव संधि होती है जैसे -

"प्रभुहिं चितै पुनि चितै
महि राजत लोचन लोल।
खेलत मनसिज मीन जुग,
जनु विधु मंडल डलि॥"

   यहाँ पर गुरूजी की उपस्थिति के कारण लज्जा, राम के दर्शन की उत्कण्ठा इन दोनो का सम्मिलन चमत्कारी है।

3. **भावशांति**

   जहाँ पर किसी भाव की समाप्ति में विशेषता देखी जाती है। वहाँ पर भावशांति होती है। जैसे-

"अतीव उत्कंठित ग्वाल बाल हो,
सवेग आते रथ के समीप थे।

परन्त होते अति दी मालीन थे
न देखते थे जब वे मुकुन्द को॥"

यहाँ पर उद्धव को आता देखकर ब्रजवासियों के हर्ष का भाव विषाद में (कृष्णा को न देखकर) शांत हो जाता है।

4. भाव सबलता

जहाँ एक के बाद अनेक भावों के आने से एक ही साथ अनेक भावों के सम्मिलन का सौदर्य हो वहां भाव-सबलता होती है। जैसे -

"जबते कुंवर कान्ह रावरी, कला निधान
कान परी वाके कहु, सुजस कहानी सी
तब ही ते देव देखी देवता सी हसति सी
रीझति सी खीझति सी रूठति रिसानी सी
छोही सी, छली सी, छीन लीनी सी, छकी सी,
छिन जकी सी, टकी, लगी सी, थहरानी सी।
बांधी सी, बंधी सी, विष बूढ़ति विमोहति सी,
बैठी बाल बकति विलोक विकानी सी॥"

उपर्युक्त छंद में उल्लास कवि उन्माद जड़ता मोह आदि अनेक भाव सम्मिलित होकर चमत्कार की सृष्टि करते है।

4.15 ध्वनि के आधार पर काव्य के भेद

ध्वनि सिद्धान्त वाले तीन प्रकार का काव्य मानते है।

1. ध्वनि काव्य

इसमें वाच्य या प्रत्यक्ष अर्थ की अपेक्षा प्रतीयमान या जान पड़ने वाला अर्थ अधिक चमत्कार्यपूर्ण प्रतीत होता है।

2. गुणीभूत व्यंग्य

इसमें व्यंग्य अर्थ होते हुए भी वह वाच्य अर्थ से कम चमत्कार्यपूर्ण हो।

3. चित्र काव्य

इसमें शब्द और अर्थ के अलंकारों का चमत्कार दिखाया जाय। यह अधम काव्य कहा जाता है।

इन आचार्यों ने गुणों और अलंकारों को अलग - अलग करते हुए कहा कि जो मुख्य रसयुक्त अर्थ पर आश्रित है वे गुण है और जो शब्द और अर्थ पर आश्रित रहते है वे अलंकार है। इस प्रकार ध्वनि सिद्धान्त वाले गुण को काव्य का नित्य धर्म मानते है और अलंकारो का अनित्य धर्म। अर्थात वे मानते व सत्काव्य में अलंकार हो या न हो किन्तु गुण अवश्य होना चाहिये। इन आचार्यों ने काव्य की वाक्य की रचना तीन प्रकार मानी है

१. असमासी - बिना समास वाली।

२. मध्यम समास - कम समास वाली।

३. दीर्घ समास - बड़े समास वाली।

टिप्पणी

इन सबका विधान किया गया कि इनका प्रयोग विशिष्ट रस के अनुसार करना चाहिए और रस वक्ता विषम की दृष्टि से देख लेना चाहिए कि उपर्युक्त वाक्य रचना शैलियों में से कौन सा उनके लिये उपयुक्त हो।

4.16 ध्वनि सिद्धान्त का महत्व

इसके प्रवर्तक आनन्दवर्धन ने ध्वनि को स्पष्ट शब्दों में काव्य की आत्मा कहा है। ध्वनि के जहाँ वस्तु ध्वनि का अलंकार ध्वनि रूप भी है वहाँ ध्वनि का शुद्ध रूप रस ध्वनि है उसका ध्वनिवादियों ने मुक्त कण्ठ से यशोगान किया है और रस ध्वनि को काव्य की आत्मा माना है। ध्वनि उस प्रतीयमान व्यंग्यार्थ को कहते है जिसे वाक्य अपने आपको और शब्द अपने वाच्यार्थ को गौण बनाकर अभिव्यक्ति कहते हैं।

"यात्रार्थ शबदों या तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वाथौ।
व्यष्क्त काव्यविशेषः स ध्वनिरिति
सूरिभिः कथितः॥"

आनन्दवधन न अलकार और रीति दोनों को काव्य की आत्मा माने जाने का खण्डन किया है। अलंकार में ध्वनि की आवश्यकता ही नहीं है। यदि कहीं प्रतीत होती है, यथा प्रतिवस्तुपमा व्यातिरेक आदि में, तो भी उसका ध्वान का प्रधान रूप मे कथन नहीं होता। उनमें चमत्कार का प्रधान्य रहता है। हाँ व्यंग्याशं समन्वित पर्यायोक्ति आदि का चमत्कार अधिक है पर यदि व्यंग्यार्थ की प्रधानता हो जाए तो ये अलंकार के नहीं ध्वनि के उदाहरण होंगे।

"यत्र तु व्यंग्यपरत्येनवे ध्वनिरीति कथितः।
तस्य पुनरंगीन अलंकाराः गुणाः गुतयश्च॥"

अतः इसकी स्थिति बाह्यपरक ही है, इसमें ध्वनि की समाविष्ट नहीं माना जा सकता। रीति को आनन्दवर्धन संघटना नाम देते हुए कहा है कि वह गुणों पर आश्रित रहकर रसों की अभिव्यक्ति करती है अतः वह ध्वनि की अभिव्यक्ति में सहयोग देने वाली है। वह भी प्रत्यक्ष नहीं गुणों की आश्रित होकर इस प्रकार रीति एक विशिष्ट प्रकार रचना है। अतः वह काव्य की आत्मा कदापि नहीं हो सकती है। इस प्रकार आनन्दवर्धन ने रीति और अलंकार को काव्य की आत्मा माना है। ध्वनि नितान्त आन्तरिक काव्यत्व है, जो प्रतीयमानार्य है, ध्वनि के अनुरूप उन्होंने काव्य के तीन रूप माने हैं।

(१) ध्वनि (२) गुणीभूत व्यंग्य और (३) चित्र।

उन्होंने गुण और अलंकारों को ही ध्वनि की सत्ता मानी है। इसी को उन्होने काव्य की आत्मा माना है। इस ध्वनि का सर्वात्कृष्टि रूप उन्होने रस माना है।

4.17 प्रश्न-उत्तर

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. **डॉ. नगेन्द्र द्वारा बताई गई ध्वनि सिद्धान्त की परिभाषा बताइये?**
2. **अविवक्षित वाच्य ध्वनि या लक्षणा मूलाध्वनि का संक्षिप्त परिचय दीजिए?**
3. **लक्षणा मूलध्वनि के भेदों का वर्णन करो? रसाभाव क्या होता है?**
4. **चित्र काव्य से क्या तात्पर्य है?**
5. **ध्वनि शब्द स्फोट से सम्बन्धित हैं, कारण बताओं?**

विस्तृत उत्तरीय प्रश्न

1. ध्वनि शब्द की व्युत्पत्ति एवं ध्वनि सिद्धान्त के जन्म का वर्णन कीजिए? एवं ध्वनि सिद्धान्त का स्वरूप् बताइये?
2. ध्वनि की परिभाषाएँ बताइये। ध्वनि और स्फोट सिद्धान्त का संक्षिप्त वर्णन कीजिए?
3. ध्वनि के भेद का वर्णन कीजिए?
4. ध्वनि के आधार पर काव्य के भेद बताइये एवं ध्वनि सिद्धान्त का महत्व बताइये?
5. ध्वनि को काव्य की आत्मा कहा गया है। स्पष्ट कीजिए?

♦♦♦♦♦

इकाई **5**

वक्रोक्ति सिद्धांत

संरचना

5.1 वक्रोक्ति की परिभाषा
5.2 वक्रोक्ति
5.3 कुंतकपूर्व वक्रोक्ति विचार
5.4 वक्रोक्ति सिद्धांत का स्वरूप
5.5 वक्रोक्ति सिद्धांत के भेद
5.6 वक्रोक्ति सिद्धांत का महत्व
5.7 प्रश्न–उत्तर

टिप्पणी

5.1 वक्रोक्ति की परिभाषा

भारतीय काव्य शास्त्र में कुन्तक के वक्रोक्ति सिद्धान्त का महत्वपूर्ण स्थान है। यह सिद्धान्त मानों अलंकार सिद्धान्त पर सूक्ष्म विचार करके स्थिर किया गया है। कथन या अभिव्यक्ति या चमत्कारपूर्ण ढंग ही वक्रोक्ति है। जिसमें कोई बांकपन हो जो कि हमारे हृदय या मन पर प्रभाव डाल सके यही कथन कविता है। यह कविता का एक स्वरूप अवश्य है। अभिव्यक्ति का बांकपन एक विशेष आभा या चमक से शब्दों को भर देता है और कभी-कभी हृदय की अनुभूति चाहे उससे न उकसे पर मन प्रसन्न होता है अतः जहाँ पर अनुभूति को जगाना रस का काम है वहाँ मन का रंजन वक्रोक्ति द्वारा ही संभव है अलंकारिक के द्वारा भी वक्रोक्ति एक अलंकार के रूप से मान्य है, पर इसे एक अलंकार न मानकर यदि हम सभी अलंकारों के मूल में देखे तो अधिकांश वक्रोक्ति ही मिलती है। अतः कुन्तक ने अपने 'वक्रोक्तिजीवतम्' ग्रन्थ में वक्रोक्ति को और कविता के क्षेत्र से उसको उपयोगी ठहराया है। वक्रोक्ति के लिए वैचित्य अनिवार्य है। उसमें किसी न किसी प्रकार की असाधारणता अवश्य होनी चाहिये। वक्रोक्ति की इस परिभाषा में प्रायरू सभी प्रकार का काव्य आ जाता है। सिद्धान्त रूप से यद्यपि कुन्तक ने स्वभावोक्ति में काव्यत्व का विरोध किया है, परन्तु व्यवहार रूप में वक्रोक्ति की व्याख्या करते हुए उन्होने स्वीकार किया है कि वस्तुओं के स्वभाव का सफल अंकन प्रायरू बाह्य अलंकारों से सज्जित वर्णन की अधिक आध्लादकारी होता है परन्तु वे इस बात पर बल देते है कि वस्तु स्वभाव के तत्वों का चयन साधारण दृष्टि से न होकर कवि दृष्टि से ही होना चाहिये। अर्थात् यह वर्णन वस्तु परिगणन मात्र न होकर कवि व्यायाजन्य होना चाहिये।

इस प्रकार वक्रोक्ति शब्द का सीधा अर्थ है टेढ़ी बात (वक्र उक्ति) या किसी बात को सीधे न कहकर घुमा फिरा कहना। तात्पर्य यह है कि

"जिस बात को साधारणतरू लोग एक ढंग से कहते हैं उसे किसी दूसरे ढंग से सुन्दर बनाकर कहने को ही वक्रोक्ति कहते हैं।"

भोजन करने के लिये घर में कहते है खाना खा लीजिए इसी को दूसरा कहता है थाली आपकी प्रतीक्षा कर रही है। दूसरा कथन ही वक्रोक्ति है। एक तीसरे प्रकार से भी कहा जा सकता है- चलकर टिक्कड़ लूंस लीजिए। यद्यपि पीछे की दोनो ही उक्तियाँ असाधारण और टेढ़ी अर्थात घुमाकर कही गई है किन्तु दूसरी में चमत्कार और तीसरी में फूहड़पन और ग्राम्यत्व है। अतः

"सर्वप्रथम उसी उक्ति को कहते हैं जिसमें अत्यन्त शिष्ट ढंग से कथन में चमत्कार उत्पन्न किया गया"

सर्वप्रथम ने अपने काव्यालंकार में वक्रोक्ति का परिचय दिया है। उन्होने वहाँ वक्रोक्ति को अतिश्योक्ति का दूसरा नाम बताते हुए उसे ही काव्य का मूल तत्व माना है। उनहोने कहा है।

"सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभागृयते।
यत्रोष्यां कविना कार्यः
कोष्लंकारजया बिना।।"

किन्तु भामह ने तो काव्य में वक्रोक्ति का ही उपयोग समझा है कि अलंकार के लिए वक्रोक्ति का होना आवश्यक है।

"वाचा वकार्य शब्दोक्तिरलष्काराय कल्पते"

अर्थात् टेढ़े अर्थ में शब्दों का प्रयोग करना ही अलंकार बन जाता है। भामह के एक पद्य का उदाहरण देते हुए जहाँ गुप्त ने वक्रोक्ति का यह लक्षण बताया है।

"शब्दस्या हि वक्रता, अभिधेयस्य हि
वक्रता लोकोनतर्णेनरूपेणावस्थानम्॥"

लोकोत्तर या निराले ढंग से शब्दों और अर्थो को बैठाना ही शब्द अर्थ की वक्रता कहलाती है जैसेतुम्हें मार डालूंगा कहने के बदले यदि आपने कहातुम्हें पराजय के भवन का अतिथि बना दूंगा। वक्रोक्ति हो गई।

5.2 वक्रोक्ति

स्वाभाविक कथन से भिन्न हो और जिसमें अतिशय कथन है। इस विवेचन के अनुसार उपमा आदि सभी अर्थालंकार तथा रसवत प्रयान आदि रस सम्बन्धी अलंकार सब वक्रोक्ति के अन्तर्गत आ जाते हैं। इस प्रसंग में दण्डी ने कहा है कि श्लेष के सम्पर्क से वक्रोक्ति और अधिक खिल उठती है। इसे हम कह सकते है कि भामह ने वक्रोक्ति जो कल्पना की थी उसे ही दण्डी ने स्वीकार कर लिया। भामह ने तो वक्रोक्ति को सब अलंकारों का मूल और सामान्य वार्तालाप से भिन्न माना है किन्तु दण्डी ने तो स्वभावोक्ति को वक्रोक्ति के क्षेत्र से अलग कर दिया। क्योंकि वे वक्रोक्ति के लिये अतिशय कथन को आवश्यक नहीं मानते। वामन ने वक्रोक्ति का जो वर्णन किया है उसका रूप भामह ने तो वक्रोक्ति को अलंकारों का मूल आधार माना था किन्तु वामन ने उसे अर्थालंकारों में गिन लिया। वामन का मत है कि वक्रोक्ति भी सादृश्य दर आधृत लक्षणा ही है जैसे–प्रातरू काल सरोवर में कमल खिले और कुमुद संकुचित हो गये? वाक्य में कमल का खिलना और कुमुद के लिये संकुचित होने की बात में वक्राक्ति है। ये खिलना और संकुचित होना दोनों नेत्रों के काम है किन्तु समानता होने के कारण इनमें कमल के खुलने और बन्द होने का भी अर्थ निकलता है। रूद्रट ने वक्रोक्ति को एक प्रकार का शब्दालंकार ही मान लिया। जब कोई किसी की बात सुनकर उसके शब्दों का दूसरा अर्थ लगाकर कुछ दूसरा ही असंगत उत्तर दे उसे रूट्ट ने वक्रोक्ति माना है जैसे–

"खोलो जी किवाड़ तुमको ही एतीबार"
हरि नाम है हमारों बसों कानन पहाड़ में॥"

कृष्ण विलम्ब से रात्रि में आये और किवाड़ खटखटाने लगे। राधिका समझ गई कि कृष्ण ही किवाड़ खटखटा रहे हैं परन्त वे कहती है कि इतनी रात बीते कौन आया है कृष्ण जी कहते है कि मै हरि हँ। हरि का दूसरा अर्थ बन्दर भी होता है। अत: बन्दर का अर्थ लेकर राधिका कहती है कि यदि बन्दर हो तो जंगल में पहाड़ पर चले जाओ। यह श्लिष्ट वक्रोक्ति को अलंकार न मानकर काव्य का प्रधान तत्व माना है और विचित्र ढंग से कहने –

"वैदग्धी भडं.गी भणितिरू"

को ही वक्रोक्ति माना है। इससे सिद्ध हुआ है कि भामह ने अलंकार के मूल तत्व के रूप में जिस वक्रोक्ति को ग्रहण किया था उसे वामह ने सादृश्यामूल्य लक्षण के रूप में अर्थलंकार माना, रूद्रट ने शब्दालंकार माना और कुन्तक ने काव्य का मूल तत्व माना।

5.3 कुंतकपूर्व वक्रोक्ति विचार

इस प्रकार वक्रोक्ति समप्रदाय के प्रतिष्ठापक आचार्य कुन्तक हुए जिन्होने ध्वनि को नहीं वक्राक्ति को काव्य जीवन (प्राण) माना। उनका उद्देश्य यद्यपि ध्वनि सिद्धांत का प्रत्यक्ष विरोध करना तो नहीं था, परन्तु उन्होंने उसकी पृथक सत्ता न मानकर उसे वक्रोक्ति ही माना। वक्रोक्ति अत्यन्त प्राचीन है। कादाम्बरी में इसका प्रयोग पारिहास के अर्थ में हुआ। भामह ने इसका अर्थ "इष्टावाचामलंकृत:" अर्थात् अर्थ और शब्द का वैचित्रयश् करते हुए उसे सभी अलंकारों का मूल माना है। भामह के उपरान्त दण्डी ने

वक्रोक्ति को स्वभावोक्ति के विपर्यय रूप में ग्रहण करते हुए उसे श्लेषपोषित माना है सारांश यह है कि भामह और दण्डी दोनों के अनुसार वक्रोक्ति कथन की उस विचित्र असाधारण शैली का नाम है जो साधारण इतिवृत शैली से भिन्न होती है।

"शब्दस्य हि वक्रता अभिधेयस्य
वक्रता लोकान्तीर्णेन रूपेणावस्थानम"

परवर्ती आचार्यों ने रूद्रट आदि प्रायरू सभी ने वक्रोक्ति को शब्दालंकार माना है केवल एक वामन ने अर्थालंकार माना है।

कुन्तक ने इस सभी का निबेध करते हुए वक्रोक्ति को पृथक् अलंकार मानने से इन्कार किया तथा अत्यन्त स्पष्ट और सबल शब्दों में उसे काव्य का जीवन माना है। कुन्तक काव्य को आहलादकारी सालंकार शब्दार्थ का साहित्य (साहित्य भाव) मानकर चलें है। वक्रोक्ति की व्याख्या उन्होने कीश्श् वैदग्ध्य भंगी-भणितिश् अर्थात् कथन की विचित्रता जो कवि-प्रतिभा पर निर्भर है। वक्रोक्ति की इस व्यापक परिभाषा में उन्होने शब्दालंकार, अर्थालंकार, प्रबन्ध-कौशल आदि सभी को अन्तर्भूत कर लिया।

5.4 वक्रोक्ति सिद्धांत का स्वरूप

कुन्तक ने वक्रोक्ति का अर्थ किया है -

"विचित्र विन्यास क्रम"

जो एक और शास्त्र आदि में प्रयुक्त इतिवृतात्मक शब्द और अर्थ के उपनिबन्ध से भिन्न अथवा विशिष्ट होता है, और दूसरी और व्यवहारगत साधारण भाषा प्रयोग से इसीलिए उन्होने वैदग्ध्यय भंगी-भंगिति कहां है। वैदग्ध्य का प्रयोग विद्वता से भिन्न काव्य नेपुण्य के अर्थ में बहुत पहले से चला आता था, भंगी-भणिति से तात्पर्य था-भाषा का वक्र अर्थात् रमणीय प्रयोग दूसरे शब्दों में उक्ति चारूत्व। वैदग्ध्य कवि प्रतिभाजन्य होता है। अतएव वक्रोक्ति का प्रयोग भी निश्चय ही कवि प्रतिभाजन्य ही होता है। कवि प्रतिभा एवं कवि व्यापार से स्वतन्त्र उसका अस्तित्व नहीं है। ये कवि व्यापार क्या है, इसे वे अनिर्वचनीय मानते है। कुन्तक की वक्रता एक पृथक उक्ति में ही सीमित न रहकर वर्ण विन्यास से लेकर प्रबन्ध रचना तक प्रसारित है। इसी धारणा के अनुसार ही उन्होने वक्रोक्ति अथवा कवि व्यापार वक्रता के छह भेद माने है।

5.5 वक्रोक्ति सिद्धांत के भेद

आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्ति के ६ भेद किए हैं। इस विभाजन में आचार्य कुन्तक की सूक्ष्म बुद्धि और विभाजन कुशलता का पता चलता है। वक्रोक्ति के ये भेद आज भी मान्य है।

१. वर्ण विन्यास वक्रता	२. पद पूर्वार्द्ध वक्रता	३. पद परार्ध वक्रता
४. वाक्य वक्रता	५. प्रकरण वक्रता	६. प्रबन्ध वक्रता

वक्रोक्ति के इन भेदों का विवेचन इस प्रकार है। इतना ही नहीं पंत की इन पंक्तियों में भी लिंग वैचित्रय का रूप देखा जा सकता है।

"सिखादो ना है मधुपकुमारि।
मुझे भी अपना मीठा गाना।।"

पद-परादर्घ की वक्रमाः

वक्रोक्ति का तीसरा भेद पद परार्ध वक्रता है। यह वक्रता पद के बाद में प्रयुक्त होती है। इसे प्रत्यय वक्रता

टिप्पणी

भी कहा जा सकता है। इसके भी कई प्रकार है। कालवैचित्र्य-वक्रता, कारक-वक्रता, संख्या-वक्रता, पुरूष-वक्रता, उपग्रह-वक्रता, प्रत्यय वक्रता, पद-वक्रता आदि। इस प्रकार की वक्रता का उदाहरण इन पंक्तियों से समझिए।

"नासा मोरि नचाय इंग
करी ककाकी सौहं।
कांटे सी कसकति हिय
गड़ी कटीली भौंह।।"

वाक्य-वक्रताः

यह वक्रता कवि-प्रतिभा पर निर्भर है। प्रतिमा की भांति ही यह प्रतिभा भी विविध रूपिणी है। प्रधान रूप से इसमें अलंकारों का विवेचन किया जाता है। कुन्तक ने अलंकारों का बड़ा सुन्दर विवेचन किया है। अलंकारों

में चारूता और कवि-प्रतिभा दोनों को आचार्य कुन्तक ने आवश्यक माना है। वाक्य-वक्रता के अन्तर्गत ही वस्तु वक्रता भी आती है। वस्तु का स्वरूप भी दो प्रकार का होता है-स्वभाव प्रधान और इस प्रधान। स्वभाव-प्रधान में स्वभावोक्ति अलंकार की संयोजन होती है और रस प्रधान में रस का चमत्कार होता है।

प्रकरण-वक्रताः

वाक्य-वक्रता से थोड़ा विस्तृत रूप प्रकरण वक्रता का होता है। वाक्यों की सम्मिलित स्थिति प्रकरण का निर्माण करती है। यह प्रकारण वाक्य से विशाल और प्रबन्ध का अंश मात्र है। प्रबन्ध में सौन्दर्य भरने के लिए प्रकरण-वक्रता अत्यन्त आवश्यक हो।

प्रबन्ध-वक्रताः

वाक्य से प्रकरण और विषय से सहयोग पाकर प्रबन्ध में आई वक्रता को प्रबन्ध-वक्रता का नाम दिया जाता है। जब समूचा प्रबन्ध इस वक्रता से युक्त होता है तो उसे प्रबन्ध वक्रता कहाँ जाता है।

5.6 वक्रोक्ति सिद्धांत का महत्व

इसके प्रवर्तक आचार्य कुन्तक ने काव्य को जीवित (आत्मा) वक्रोक्ति को माना जो "वैदग्ध्य-भंगीमणिति है।

"वक्रोतिरेव वैदग्ध्य भंगी भीणतिरूच्यते"

अर्थात् कवि कर्म-कौशल से उत्पन्न वैचित्रयपूर्ण कथन वक्रोक्ति है। जो काव्यतव किसी कथन में लोकोत्तर चमत्कार उत्पन्न कर दे, उसका नाम वक्रोतिन है।

कुन्तक ने कोई विचार रीति पर नहीं किया सम्भवतः निस्सार समझकर अलंकारों के संबंध में उनका दृष्टिकोण आनन्दवर्धन जैसा ही है। पर वह अलंकार में प्रतिपादक व्यापक अर्थ को भी भुला नहीं सके। इसीलिए उन्होने कहाकि काव्य तो सालंकार वचन की होती है

"तत्व सालंकारस्य व्यता"

और इसीलिए उन्होनें वक्रोक्त को विचित्र तथा अपूर्व अभिघा कहा हैः

"विचित्रैव अभिधा वक्रोक्तिरित्युच्यते।"

विचित्रा अभिघा से कुन्तक का तात्पर्य ध्वनि से ही है। इस प्रकार उनका रस, ध्वनि और अलंकार के प्रति उदार दृष्टिकोण है। फिर भी, वह वक्रोक्तिवादी है और वह वक्रोक्ति को ही काव्य की आत्मा

टिप्पणी

मानते है। पर उनकी वक्रोक्ति बाह्मपरक भी है और आन्तरिक भी। शब्दालंकारों को वर्ण विन्यासवक्रता के अन्तर्गत तथा अर्थालंकारों को वाक्यवक्रता के अन्तर्गत निरूपति करके वह वक्रोक्ति को बाह्य रूप से प्रस्तुत करते हैं और जहां कहीं वह आनन्दवर्धन के समान ध्वनि के उदाहरणों को प्रस्तुत करते हैं। इस प्रकार पद पूर्वार्धविक्रता के आठों भेदों में से रूढ़ि वैचित्यवक्रता तथा उपचारवक्रता तो आन्तरिक तत्व के सूचक है तथा शेष छरू उपभेद बाह्य तत्व है। फिर भी समग्रता से देखा जाए तो इसका बाहा पक्ष ही अधिक प्रबल है। पर यह तो मानना ही होगा कि वह बाहापरकता रीति अलंकार की अपेक्षा अधिक व्यापक है।

अत: कुन्तक ने वक्रोक्ति को कात्य का जीवित 'वक्रोक्ति कावयस्य जीवितम' माना है। इन्होंने वक्रोक्ति को काव्य का जीवन प्राण माना है।

5.7 प्रश्न-उत्तर

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. **वक्रोक्ति सिद्धांत का सीधा अर्थ टेढी बात से है। इस कथन को स्पष्ट कीजिए?**
2. **पद-पूर्वाद्ध-वक्रोक्ति के सभी भेदों का वर्णन कीजिए?**
3. **वक्रोक्ति सिद्धांत के भेदों का चित्र सहित व्याख्या कीजिए?**
4. **वर्ण-विन्यास वक्रोक्ति को परिभाषित कीजिए?**
5. **वक्रोक्ति किसे कहते है?**

विस्तृत उत्तरीय प्रश्न

1. **वक्रोक्ति सिद्धांत से क्या तात्पर्य है? वक्रोक्ति सिद्धांत की परिभाषायें बताइये?**
2. **वक्रोक्ति सिद्धांत का स्वरूप बताइये एवं कुंतकपूर्व वक्रोक्ति विचारों का वर्णन कीजिए?**
3. **वक्रोक्ति सिद्धांत के भेदों का सोदाहरण परिचय दीजिए?**
4. **वक्रोक्ति सिद्धांत के महत्व को समझाइये?**
5. **कुन्तक ने वक्रोक्ति को "विचित्र विन्यास क्रम में स्पष्ट किया है" यह कथन समझाइये?**

♦♦♦♦♦

टिप्पणी

टिप्पणी

टिप्पणी

References and Suggested Reading

lnHk iqLrdsa

- Òkjrh; dk0;'kkL= & M,- gfj'pUæ oekZ
- Òkjrh; dk0;'kkL= & M,- lR;no pkS/kjh
- Òkjrh; dk0;'kkL= & M,- ÒxhjFk feJ
- fl)kr vkSj vè;;u & xykc jk;
- Òkjrh; dk0;'kkL= dh ijEijk & M,- uxUæ
- Òkjrh; dk0;'kkL= & M,- cyno mik/;k;
- lkfgR; ni.k µ vkpk;Z fo'oukFkA
- Hkkjrh; rFkk ik'pkR; dk0;'kkL=k µ lgno pk/jh ,o 'kkfUrLo:i xIr

- Hkkjrh; dk0;'kkL= µ Mk- lR;no pk/kjhA

Internet links

https://www.youtube.com/watch?v=jUa9_yM3eko

https://www.youtube.com/watch?v=DJjqjH1nUEc

https://www.youtube.com/watch?v=k1kD0-iIA6E

https://www.youtube.com/watch?v=knKwgVgkyqo

https://www.youtube.com/watch?v=SPUZaxB8Qk0